"भारतीय राजनीति की १९६७-१९८९ तक की प्रवृत्तियाँ एक अध्ययन विकसित हो रही भारतीय राजनीतिक संस्कृति के सन्दर्भ में"

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डॉक्टर आफ फिलासफी उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

शोधकर्ता
संतोष कुमार चतुर्वेदी
एम०ए० (रा०वि०)

निर्देशक
श्रीमती सुनीता अग्रवाल
रीडर

राजनीति विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

१९९५

प्राक्कथन

वर्तमान समय में भारतीय जन-मानस में भारतीय राजनीति के गिरते चरित्र के कारण पैदा हो रही उदासी सम्पूर्ण भारतीय राजनीतिक संस्कृति केलिए समस्या का विषय होती जा रही है। वर्तमान समय में किसी भी देश की सामान्य संस्कृति वहाँ की राजनीतिक संस्कृति से बहुत हद तक दिशा प्राप्त करती रही है । इसी से समाज के ऊपर राजनीति के असर को समझा जा सकता है । इसका मुख्य कारण राजनीति के जरिये सत्ता प्राप्ति एवं सत्ता से देश की राजनीतिक संस्कृति का निरूपण होना है । अत: राजनीति की स्थिति वह मापदण्ड है जिससे देश अथवा काल का वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ।

भारतीय राजनीति में 1967 से लेकर वर्तमान तक अनेको परिवर्तन दिखाई देते हैं । वैसे 1967 का वर्ष भारतीय राजनीति में मील का पत्थर साबित हुआ है, क्योंकि इस वर्ष से ही तथाकथित कांग्रेस व्यवस्था का एकाधिकार टूटने लगा एवं राष्ट्रीय नेतृत्व धीरे-धीरे समाप्त सा होता दिखाई देने लगा । इसके बाद के वर्षो मे भारतीय राजनीति में जिन प्रवृत्तियों का समावेश हुआ उनमें क्षेत्र विशेष आधारित राजनीति, सत्ता प्राप्ति के लिए दल-बदल , वोट के लिए जाति एवं धर्म जैसे विषयों को विशेष बल देना, राजनीति का पैसे एवं हिंसा के बल पर अपराधिकरण का स्वरूप ले लेना इत्यादि विशेष रूप से दिखाई देते है । इन प्रवृत्तियों के कारण भारत की एकता एवं अखंडता प्रभावित हुई है । स्वतंत्रता प्राप्ति के समय साम्प्रदायिक राजनीति के कारण ही देश का बँटवारा हुआ । देश की जनता आज भी उस सदमे को पूर्ण रूप से नही भूल पाई है, एवं उससे कोई सबक नही ले पाई है । राजनीतिक दल चुनावो में साम्प्रदायिक एवं जातिवादी मत का कार्ड इस्तेमाल करने से नहीं चुकते जिनका

प्रत्यक्ष प्रमाण आजकल के चुनावों में दिखाई देते है एवं वर्तमान भारतीय राजनीति में इन्हीं प्रवृत्तियों का बोल-बाला है। इन प्रवृत्तियों ने ही राजनीतिक उद्देश्यों को संकुचित कर दिया है एवं सम्पूर्ण राजनीतिक प्रणाली को दोष पूर्ण कर दिया है। इसी के कारण सम्पूर्ण राजनीतिक संस्कृति का परिवर्तन होता जा रहा है। इस परिवर्तन के कारण ही भारतीय सामान्य जन मानस का राजनीति से विश्वास दिन प्रतिदिन कम होता जा रहा है अतः भारतीय राजनीति की समकालीन प्रवृत्तियों के कारण विकसित हो रहे राजनीतिक संस्कृति का अध्ययन सामान्य जनता एवं राजनीतिक दलों एवं उनके नेताओं के लिए रूचि एवं जिज्ञासा का विषय है।

इस शोध प्रबंध में राजनीति शास्त्रियों के शोध अध्ययनो का मुख्य रूप से प्रयोग किया गया है। समकालीन राजनीति की प्रवृत्तियों को जानने के लिए चुनाव आयोगों की रिपोर्टों का भी प्रयोग कियागया है। समकालीन भारतीय राजनीति को जानने के मुख्य श्रोत रहे है तत्कालीन समाचार पत्र, जनरल एवं शोध संस्थानो द्वारा प्रकाशित आर्टिकिल्स। शोध प्रबन्ध में इस सामग्री का यथेष्ट प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न पत्रिकायें, राजनीतिक विज्ञान के विद्वानो द्वारा लिखित पुस्तकें तथा राजनीतिक दलों के चुनाव घोषणा पत्र शोध प्रबंध के प्रमुख आधार रहे हैं।

अपने पूज्य अध्यापकप्रो॰एच०एम०जैन, भूतपूर्व अध्यक्ष राजनीति विज्ञान विभाग के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनके सहयोग से इस शोध कार्य के प्रारंभ एवं पूर्ण करने मे मुझे हर तरह की सहायता मिली। मैं श्रद्धेया श्रीमती सुनीता अग्रवाल का अत्यन्त आभारी हूँ जिनके योग्य निर्देशन के अभाव में यह शोध प्रबंध पूर्ण नही हो सकता था। मैं अपने अध्यापकों डा० यू०के० तिवारी वर्तमान विभागाध्यक्ष एवं डा० के०के० मिश्र का भी आभारी हूँ जिनके सहयोग से यह शोध प्रबंध पूर्ण हो सका।

संतोष कुमार चतुर्वेदी

दिनांक 29/3/95

सूची- पत्र

अध्याय - 1

विषय - प्रवेश

अध्याय - 1

विषय - प्रवेश

राजनीतिक संस्कृति :

किसी भी युग की किसी संस्कृति के सही मूल्यांकन के लिए उन सभी तत्कालीन सामाजिक तत्वों का अध्ययन जरूरी है जो मनुष्यों को समाज में परस्पर संयुक्त करते हैं। आर्नाल्ड ग्रीन के अनुसार संस्कृति, ज्ञान, व्यवहार एवं विश्वास के आदर्शकृत ढंगों की सामाजिक रूप से हस्तांतरित प्रणाली, इसकी कलाकृतियों सहित, जिन्हें ज्ञान, व्यवहार, समय के परिवर्तन के अनुसार उत्पन्न एवं रक्षित है[1]।

राजनीतिक संस्कृति शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम गेब्रियल आमण्ड ने किया। राजनीतिक संस्कृति की संकल्पना का अध्ययन राजनीतिक विकास के विषय के समाज वैज्ञानिक पहलुओं का परीक्षण करना है। जब से उलम, बीर, आमंड ने इस शब्द को लोकप्रियता प्रदान की है, यह राजनीतिक व्यवस्थाओं के आकारीय अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण कसौटी बन गया है। इसने समाजशास्त्रियों को इस बात का आग्रह करने के लिए प्रभावित किया है कि एक राजनीतिक व्यवस्था दूसरी राजनीतिक व्यवस्था से न केवल संरचना की दृष्टि से बल्कि राजनीतिक संस्कृति की दृष्टि से भी भिन्न है जिसमें वे स्थित होती है।

किसी राजनीतिक संस्कृति में उस समाज की अभिवृत्तियाँ, विश्वास, भावनायें और मूल्य शामिल होते हैं जिनका राजनीतिक व्यवस्था और राजनीति मुद्दों से सम्बन्ध होता है।[2] इसकी परिभाषा किसी राजनैतिक व्यवस्था के सदस्यों के राजनीति के प्रति व्यक्ति की अभिवृत्तियों और अभिविन्यासों के

1- कल्चर इज सोशली ट्रांसमीटेड सिस्टम ऑफ अडियालाइज्ड वेज इन नालेज, प्रैक्टीस एंड बिलीफ, एलांग विथ द आर्टिफैक्ट्स दैट नालेज एंड प्रैक्टीस प्रोड्यूस एंड मेन्टेन ऐज दे चेंज इन टाइम - आर्नाल्डग्रीन।

2- ए. आर. बॉल : मार्डन पालिटिक्स एंड गवर्नमेंट पेज 56

प्रतिमानो के रूप में की जाती है ।[1]

किसी समाज के सदस्यो में भावात्मक प्रेरणाओं, बौद्धिक क्षमताओं और नैतिक परिप्रेक्ष्यों के रूप में समान मानव प्रकृति होती है, यह मानव प्रकृति किन्ही मूल्यों, विश्वासों और भावात्मक अभिवृत्तियों के रूप में अपने आपको अभिव्यक्त करती है जो कमोवेश संशोधनो के साथ एक पीढ़ी से अगले पीढ़ी तक सम्प्रेषित की जाती है और इस प्रकार किसी समाज की समान संस्कृति की रचना करती है । समाज की सामान्य संस्कृति का सम्बन्ध इस बात से होता है कि सरकार किस प्रकार चलाई जानी चाहिए और इसे क्या करने की कोशिश करनी चाहिए । संस्कृति के इस क्षेत्र को हम राजनीतिक संस्कृति कह सकते हैं ।[2] यह उन अभिवृत्तियों, विश्वासों और सम्वेदों का समुच्चय है, जो किसी राजनीतिक प्रक्रिया को व्यवस्था और अर्थ प्रदान करते है और वे उन अंतर्निहित परिकल्पनाओं व नियमों की व्यवस्था करते हैं जो राजनीतिक व्यवस्था में व्यवहार का संचालन करते है ।[3]

अत: राजनीतिक संस्कृति को राजनीतिक उद्देश्यों के प्रति नागरिको के अभिविन्यास के सामूहिक वितरण के रूप मे देखा जा सकता है ।[4]

लूसियन पाई ने तीसरी दुनिया के नए राज्यो से सम्बन्धित अपनी राजनीतिक विकास की संकल्पना के संदर्भ में राजनीतिक संस्कृति के अभिप्राय का अध्ययन किया है और इसके लिए उसने अध्ययन में तीन कारको को शामिल किया है ।[5]

1- जी. ए. आमंड एंड जी. वीहा पावेल कम्परेटिव पालिटिक्स ए डेवलपमेंटल एप्रोच पेज 50

2- बीर एंड उलम : पैटर्न्स ऑफ गवर्नमेंट ﴾ न्यूयार्क रैंडम हाउस 1962﴿ पेज- 32

3- ल्यूसियन पाई - ऐस्पेक्ट ऑफ पालिटिकल डवलपमेंट पेज - 104

4- डेनिस क्वांध - पालिटिकल कल्चर पेज- 11

5- ल्यूसियन पाई : पालिटिक्स, पर्सनालिटी एंड नेशन बिल्डिंग पेज - 122-23

1- राजनीति का विस्तार, राजनीति मे साध्य एवं साधन किस प्रकार से सम्बन्धित है ।

2- राजनीतिक कार्य के मूल्यांकन के लिए मानक ।

3- राजनीतिक कार्य के लिए प्रमुख मूल्य ।

यह जाहिर है कि राजनीतिक संस्कृति की संकल्पना आत्मपरक क्षेत्र का हिस्सा है । आमंड एवं पावेल के अनुसार, इस प्रकार के व्यक्तिगत अभिविन्यास के तीन संघटक होते हैं -

1- संज्ञानी अभिविन्यास - जिससे अभिप्राय राजनीतिक व्यवस्था के बारे में यथार्थ अथवा अन्यथा से है ।

2- भावात्मक अभिविन्यास- जिससे अभिप्राय लगाव, सहयोग अस्वीकृति आदि की राजनीतिक वस्तुओं के बारे में भावनाओं से है ।

3- मूल्यांकक अभिविन्यास - जिससे अभिप्राय राजनीतिक वस्तुओ के बारे में निर्णयों और राजों से है जिसके अंतर्गत सामान्यत: राजनीतिक विषयों और घटनाओं पर मूल्य मानको को लागू किया जाता है ।[1]

राजनीतिक संस्कृति के कईऐसे घटक हैं जिनका स्थान समाज विज्ञान के जगत में है । वे है मूल्य, विश्वास और सम्वेदनात्मक अभिवृत्तियाँ, जो लोग अपनी राजनीतिक व्यवस्था के प्रति रखते है ।[2] हम यह देख सकते हैं कि लोगो के आम तौर पर कुछ राजनीतिक मूल्य होते है, जैसे एक निश्चित अवधि के बाद निर्वाचन उपयुक्त और निष्पक्ष ढंग से होने चाहिए, जनता का विश्वास खोने पर मंत्रियो को अपने पदों से त्याग"पत्र दे देना चाहिए । लोगो और देश के वास्तविक व्यवहार के बारे में राजनीतिक विश्वासो का घटक राजनीति मूल्यों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है । विश्वासो के सार्थक कारण को इस तथ्य में खोजा जाना चाहिए जो विचार पहली नजर में राजनीति से सम्बन्धं प्रतीत

1- आमंड एंड पावेल आफ सोट पेज - 50

2- फिर वही,

न्हो होते है वे राजनोतिक संस्कृति को विश्वास व्यवस्था द्वारा इससे घनिष्ठ रूप से प्रतीत हो सकते है ।[1] अंतिम हम सम्वेदनात्मक अभिवृत्तियों अर्थात् लोगो के सुर एवं मिजाज के घटक पर आते है सांविधानिक लोकतंत्र के लिए संघर्ष से भरे अतोत विरासत में प्राप्त अभिवृत्तियो को देखकर पता चलता है कि वक्ताओं को सम्य तरोके और नम्रता से हो व्यवहार करना चाहिए, चर्चा का सुर वार्तालाप पूर्ण होना चाहिए और व्यवहार भाषण को सारो शैलो हो न केवल संसद को प्रक्रिया नियमो के अनुरूप हो बल्कि परंपराओं के जटिल और बहुत हद तक अव्यक्त समुच्चय के अनुसार भो होनो चाहिए ।[2]

राजनोतिक संस्कृति का निर्माण इन विभिन्न प्रकार के अभिविन्यासो के संयोग से होता है उपर्युक्त आधार पर प्रत्येक व्यक्ति एवं समूह को राजनोतिक संस्कृति को निश्चित रूप से समझा जा सकता है । अत: यदि किसो व्यक्ति के या समूह या किसो देश को राजनोतिक संस्कृति के संबंध में जानना है तो हमे यह देखना होगा कि उस व्यक्ति या समूह को अपने राष्ट्र, उसको राजनोतिक व्यवस्था, इतिहास, राजनोतिक संरचना सांविधानिक विशेषताओं , पद धारको, विशेष नोतियों के कार्यान्वयन, राजनोतिक तंत्र में स्वयं के कार्यभाग, अपने अधिकारो और कर्तव्यों का ज्ञान आदि के सम्बन्ध में कितनो जानकारो है तथा उनके संबंध में उनको क्या भावना तथा निर्णय या मत है ? इसोलिए बर्बा ने लिखा हैकि राजनोतिक तंत्र के प्रति सामान्य रूप से तथा इसको अदा या प्रदा प्रक्रिया के पक्षो और एक राजनोतिक कर्ता के रूप में स्वयं के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा मूल्यांकस अभिविन्यासो को आवृत्ति से राजनोतिक संस्कृति को संरचना होतो है ।[3]

1- वोर एंड उलम आफ सोट पेज - 41

2- फिर वहो,

3- जो. ए. आमंड एंड एस. वर्बा दि सिविक कल्चर प्रिंस्टन यूनिवर्सिटो प्रेस, 1963 ।

भारत मे राजनोतिक संस्कृति -

भारत को राजनोतिक संस्कृति के बारे में जानने के लिए पहले भारतोय राजनोति को प्रवृत्तियों को जानना होगा । भारत को राजनोतिक संस्कृति के बारे में कुछ पश्चिमी लेखकों ने अपने विचार व्यक्त किए है जिन पर काफी विवाद रहा है । ऐसे विचारको में माइरन विनर एवं मारिस जोंस का नाम उल्लेखनोय है - माइरन वोनर के अनुसार भारत भारत मे दो राजनोतिक संस्कृतियाँ पाई जातो हैं ।[1]

विशिष्ट वर्गीय राजनोतिक संस्कृति उन व्यक्तियों को राजनोतिक संस्कृति है, जो राष्ट्रोय राजनोति में क्रियाशोल है यह राजनोतिक संस्कृति मुख्यत: दिल्लो में पाई जातो है। वोनर का कहना है कि भारत को राष्ट्रोय राजनोति पर विशिष्ट वर्ग का आधिपत्य दिखाई देता है। इस विशिष्ट वर्ग में संसद के सदस्य, नियोजन आयोग के सदस्य, राष्ट्रोय स्तर के नेता और वरिष्ठ पदाधिकारो आदि सम्मिलित है । इस विशिष्ट वर्ग से विकसित होने वालो संस्कृति को वोनर ने विशिष्ट वर्गीय राजनोतिक संस्कृति को संज्ञा दो है । उसके अनुसार इस विशिष्ट वर्ग में ऐसे लोग है जो उच्च शिक्षा ग्रहण किए हुए हैं और जिनका दृष्टिकोण राष्ट्रोय एवं अन्तर्राष्ट्रोय है जो अधिक पश्चिमाभिमुख हैं और धर्म निरपेक्षता के आदर्शों के पोषक हैं । संक्षेप में ये लोग आधुनिकोकृत है । वोनर ने विशिष्ट अथवा अभिजनात्मक राजनोतिक संस्कृति का नामदिया है भारत में स्वतंत्रता से पहले तक इसो प्रकार को राजनोतिक संस्कृति थो ।[2]

भारत में 1947 के बाद एक और राजनोतिक संस्कृति का उदय हुआ । यह संस्कृति स्थानोय से विकसित होकर जिला स्तर को राजनोति और

1- माइरन वोनर के लेख - टू पालिटिकल कल्चर एंड पालिटिकल डेबलपमेंट, प्रिस्टन यूनिवर्सिटो प्रेस, 19

2- फिर वहीं,

जिला से राज्य स्तर तक की राजनीति में प्रवेश कर रही है । ग्रामीण क्षेत्रों में उभरने वाली इस राजनीतिक संस्कृति को वीनर जन राजनीतिक संस्कृति की संज्ञा देता है । इसके अनुसार स्वतंत्रता के पश्चात जन साधारण को सक्रिय राजनीति में भाग लेने का समान अवसर प्राप्त हुआ और वयस्क मताधिकार दिए जाने के परिणाम स्वरूप, सर्व साधारण विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं में दाखिल होने लगे । इन व्यक्तियों के राजनीतिक विश्वास, उनकी राजनीतिक धारणाये, उनका राजनीतिक ज्ञान, राज्य तथा सरकार के प्रति उनका दृष्टिकोण उन लोगो से भिन्न है, जो राष्ट्रीय स्तर की राजनीति मे है । इस दूसरे प्रकार की राजनीतिक संस्कृति के उदय के वीनर के तीन कारण बताए हैं ।[1]

1- सरकार के कार्यों का अधिक विस्तार ।

2- सत्ता का विकेन्द्रीकरण ।

3- सत्ता का जनतांत्रीकरण ।

स्वतंत्रता के पश्चात भारत मे राज्य के कार्य क्षेत्र का अधिक विस्तार हुआ । आंतरिक शांति की स्थापना और वाह्य आक्रमण से रक्षा के कार्यो से लेकर छोटी से छोटी सेवाओ के संपादन का उत्तरदायित्व राज्य पर डाला गया । जिसके कारण व्यक्ति राज्य के करीब आता गया और उसे राज्य तथा सरकार को समझने का समुचित अवसर प्राप्त हुआ ।[2]

राजनीति मे जन साधारण द्वारा सक्रिय भाग लिए जाने का दूसरा कारण सत्ता का विकेन्द्रीकरण है । भारतीय संविधान ने एक संघात्मक शासन प्रणाली की स्थापना की जिसके अनुसार केन्द्र एवं राज्यों के बीच शक्तियों का स्पष्ट रूप से विभाजन संविधान द्वारा किया गया । राज्य सरकारो के अतिरिक्त शक्ति का अतिरिक्त विकेन्द्रीकरण ग्रामीण स्तर तक हुआ और ग्राम

1- फिर वहीं,

2- फिर वहीं,

पंचायत, क्षेत्र समिति जिला परिषद, नगर पालिका आदि प्रशासकीय संस्थाओं की स्थापना की गई । प्रत्येक प्रशासकीय इकाई को कुछ अधिकार प्रदान किए गए । इन नई प्रशासकीय संस्थाओं की स्थापना ने जन साधारण को अपनी ओर आकर्षित किया और जन साधारण को सत्ता की राजनीति में प्रवेश करने के लिए आमंत्रित किया ।[1]

जन साधारण को राजनीति में भाग लेने का अधिक अवसर न मिलता यदि सत्ता का जनतंत्रीकरण न किया गया होता । संविधान लागू होने के बाद सत्ता की जो विकेन्द्रीकरण किया गया और फलस्वरूप जिन राजनीतिक संस्थाओं का उदय हुआ उनके संगठन का आधार जनतंत्रात्मक था।[2]

प्रशासन की निम्न इकाई ग्राम पंचायत है । पंचायतों से लेकर क्षेत्र समितियों, जिला परिषदों, नगर पालिकाओं आदि स्थानीय निकायों का निर्वाचन जनता द्वारा किया जाता है । संविधान ने राजनीतिक समानता के सिद्धान्त को मानते हुए वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की है जिसके परिणामस्वरूप प्रत्येक नागरिक को उसकी जाति, धर्म, शिक्षा, योग्यता आदि के आधार पर कोई भेदभाव किए, बिना विभिन्न प्रशासकीय तथा राजनीतिक संस्थाओं की सदस्यता के लिए खड़े होने तथा मतदान करने का अधिकार प्रदान किया गया है । इसका परिणाम है कि आज ग्राम पंचायतों से लेकर राज्य विधान सभाओं तक नए लोग राजनीति में प्रवेश कर रहे है । इन नए लोगों के राजनीति में प्रवेश करने से एक नई राजनीतिक संस्कृति का उदय हुआ जिसे वीनर ने जन राजनीतिक संस्कृति का नाम दिया है। राजनीति में प्रवेश करने वाले ये नये व्यक्ति जो ग्रामीण क्षेत्रों से राजनीति में प्रवेश करते ऊपर की ओर बढ़ते हुए राज्य विधान सभाओं में पहुँच रहे है कम शिक्षित हैं और उन पर परम्परावादी मान्यताओं की छाप अधिक है तथा वे राष्ट्रीय समस्याओं से पूर्ण रूप से परिचित नहीं है । इसलिए वे राष्ट्रीय हितों का

1- पिअर वहीं,

बलिदान करके स्थानीय हितों को अधिक बढ़ावा देने में संकोच नहीं करते । उन पर धर्म एवं जातिवाद का प्रभाव अधिक दिखाई देता है ।

सर्वसाधारण की राजनीतिक संस्कृति निरन्तर फैलने वाली संस्कृति है, अर्थात् यह संस्कृति स्थानीय राजनीति से लेकर जिलों की राजनीतिक संस्थाओं से होती हुई प्रदेश के विधान मंडलों तक पहुँच रही है । जब कि विशिष्ट वर्ग की संस्कृति दिल्ली तक ही सीमित है । वीनर के अनुसार जन साधारण की संस्कृति में परम्परावाद की छाप पूर्ण रूप से दिखाई देती है ।[1] प्राचीन समाज में विभिन्न वर्गों अथवा दो व्यक्तियों के बीच होने वाले झगड़ों का निपटारा समझौते द्वारा किया जाता था । विवादों से निपटने का यह परम्परावादी तरीका आप भी जनसाधारण की राजनीतिक संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता है । सरकार और उसके कर्मचारियों के बीच श्रमिकों और पूँजीपतियों के बीच दल के विभिन्न गुटों के बीच, उठने वाले झगड़ों का निपटारा आज भी मध्यस्थता के द्वारा किया जाता है ।[2]

ब्रिटिश काल में सरकारी कर्मचारियों और जनसाधारण के बीच कोई प्रत्यक्ष सम्पर्क न था और उनके सम्बन्ध शासक एवं शासित के समान था । लोक पदाधिकारी अपने को जनसाधारण का शासक मानते थे और जनसाधारण उन्हें अपने मालिक के समान मानते थे । इन लोक पदाधिकारियों का जनता के प्रति कोई उत्तरदायित्व न था । स्वतंत्रता के पश्चात सैद्धान्तिक रूप से यह सम्बन्ध नागरिक एवं जन सेवक के संबंधों में परिवर्तित हो गए । जिसके अनुसार लोक पदाधिकारियों को अपने को जनता का सेवक समझना चाहिए लेकिन वे आज भी ब्रिटिश कालीन परंपरा के अनुसार अपने को जनता का शासक समझते हैं और उनके जनता के प्रति उत्तरदायित्व की भावना का अभाव है। स्थानीय शासन के पदाधिकारी अपने उच्च अधिकारियों की सेवा करने पर ज्यादा बल

1- फिर वहीं,

2- फिर वहीं,

देते हैं और जनता की सेवा मे पर कोई ध्यान नही देते प्रशासन मे रिश्वत खोरी और भ्रष्टाचार को अधिक प्रोत्साहन मिलता है ।[1]

वीनर के अनुसार सरकार के कार्य क्षेत्र के विस्तार तथा राजनीतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण एवं जनतांत्रीकरण ने राज्य तथा राष्ट्रीय स्तर की राजनीति में सर्व साधारण को भाग लेने का पूर्ण अवसर प्रदान किया और जो लोग इससे पहले राजनीति से बिल्कुल अलग थे वे धीरे-धीरे राजनीति के विभिन्न स्तरो में प्रवेश पा रहे है जिससे एक नई राजनीतिक संस्कृति विकसित हो रही है । वीनर के अनुसार सर्वसाधारण की यह राजनीतिक संस्कृति विकसित हो रही है । वीनर के अनुसार सर्वसाधारण की यह राजनीतिक संस्कृति न पूर्णतया परम्परावादी है और न ही पूर्ण आधुनिक , बल्कि यह परम्परावाद तथा आधुनिकता का मिश्रण है जिसमे संकीर्णता एवं स्थानीयता की प्रधानता है ।[2]

ऐसा कहा जाता है कि भारतीय राजनीति पर एक भी सत्यतापूर्ण पुस्तक नही लिखी गई है । मारिस जोंस का कहना है कि इसका मतलब यह नहीं कि भारतीय राजनीति पर पुस्तकें लिखने वालो ने झूठ का सहारा लिया है बल्कि इसका कारण यह है कि भारत की राजनीतिक के यथार्थ रूप तक पहुचना कठिन है । प्रत्येक राज्य के राजनीतिक जीवन का अंतर्निर्हित स्वरूप होता है और उससे सम्बन्धित पुस्तक मे उस वास्तविक स्थिति का उल्लेख किया जाना चाहिए । लेकिन भारतीय राजनीति के संबंध में कठिनाई यह है कि यहाँ की राजनीति का सैद्धान्तिक और व्यवहारिक स्वरूप इतना भिन्न है कि उसे समझने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है । जोंस का कहना है कि भारत की राजनीतिक जीवन का गूढ अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ कोई भी चीज जिस रूप में दिखाई देती है वास्तव मे वह

1- फिर वहीं,

2- फिर वहीं,

वैसा ही नही है । इसका अर्थ यह है कि भारतीय राजनीतिक शैली के दिखावे और उसकी वास्तविकता में मौलिक अंतर है । इसलिए राजनीति के केवल वाह्य स्वरूप को देखकर जिन निष्कर्षों अथवा सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया जाता है वे राजनीति की वास्तविकताओं को प्रस्तुत नहीं करते । मारिस जोंस का यह दावा है कि भारत की विभिन्न राजनीतिक संस्थायें जिन आदर्शों को प्रस्तुत करती है और यहाँ के राजनीतिक नेता जिन सिद्धान्तों का उपदेश देते हैं व्यवहार में वे स्वयं ही उन्हे तिरस्कृत करते हैं । उनका यह भी कहना है कि भारतीय राजनीति का स्वरूप इतना उलझा हुआ है कि उसे उसके वाह्य स्वरूप के आधार पर नही समझा जा सकता ।[1]

भारत के राजनीतिक जीवन मे संलग्न व्यक्तियों की राजनीतिक अवधारणा, विभिन्न समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण, उनके द्वारा अपनाए जाने वाले मूल्य और उनका राजनीतिक आचरण एक समान नहीं दिखाई देता । उनमे इतनी मौलिक विभिन्नताएँ दिखाई देती हैं जिन्हे श्रेणीबद्ध किया जा सकता है । इन विभिन्नताओं को दृष्टि में रखते हुए मारिस जोंस ने भारत के राजनीतिक जीवन को तीन श्रेणियो में विभाजित किया है जिनको उन्होने भारतीय राजनीति की तीन मुहावरे कहा ।[2] मारिस जोंस का कहना है कि भारतीय राजनीति की प्रकृति को इन मुहावरो के जरिये समझा जा सकता है । उनके अनुसार तीन भाषायें जिनके अनुसार भारतीय राजनीतिक जीवन का संचालन होता है उन्हें आधुनिक परम्परावादी और संतवादी भाषा का नाम दिया जा सकता है । ऐसा लगता है कि मारिस जोंस ने राजनीति के इन विभिन्न रूपो के लिए इंडियन शब्द का प्रयोग यह स्पष्ट करने के लिए किया गया है कि जिस प्रकार प्रत्येक भाषा मे अलग-अलग मुहावरे होते है जिनका अर्थ साधारण वाक्यो की तरह स्पष्ट नही होता बल्कि वास्तविक अर्थ उनमे छिपा हुआ होता है जिन्हे गूढ़

1- मारिस जोंस की पुस्तक दि गवर्नमेंट ऐंट पालिटिक्स ऑफ इंडिया के अध्याय पालिटिक्स एंड सोसाइटीज पृष्ठ 52 से ।

विचार के बाद ही समझा जा सकता है । उसी प्रकार भारतीय राजनीति के ये विभिन्न रूप आसानी से नही समझे जा सकते क्योंकि इनका अंतर्निहित स्वरूप इनके वाह्य स्वरूप से भिन्न है ।[1]

मारिस जोंस के द्वारा प्रतिपादित भारतीय राजनीति के इन तीन मुहावरो का साधारण अर्थ यह है कि भारत के राजनीतिक जीवन में तीन प्रकार के विचार वाले लोग पाए जाते हैं । कुछ वे लोग हैं जिनका दृष्टिकोण विस्तृत है और जो राष्ट्रीय हितों को महत्व देते है । इन्हें आधुनिक वर्ग में शामिल किया जाता है । दूसरी प्रकार के वे लोग है जो परंपरावादी विचार धाराओं के पोषक है जातीय भेदभाव पर विश्वास करते है स्थानीय हितों को महत्व देते है और राष्ट्रीय समस्याओं और हितो को गौड़ स्थान देते हैं ।[2]

इन्हे परम्परावादी श्रेणी में रखा जा सकता है। इन दोनो दृष्टिकोणों के बीच राजनीतिक का तीसरा वर्ग उन लोगों से निर्मित होता है जो आत्म बलिदान और जनहित के सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करते हैं इसे संतवादी राजनीति की संज्ञा मारिस जोंस ने दी है ।[3]

स्वतंत्रता से पूर्व विदेशी शासन ने समाज और राजनीति को एक दूसरे से काफी दूर रखा था । स्वतंत्रता के पश्चात् और सार्वभौतिक मताधिकार के दिए जाने के फलस्वरूप समाज और राजनीति एक दूसरे के समीप आए अर्थात् राजनैतिक जीवन में सक्रिय रूप से भाग लेने का अवसर जनसाधारण को समान रूप से प्राप्त हुआ इसका अर्थ यह नही कि परंपरावादी भारत अराजनी था अंतर केवल यह है कि स्वतंत्रता से पूर्व की भारतीय राजनीति का स्वरूप स्वतंत्रता के बाद विकसित होने वाली राजनीति के स्वरूप से बिलकुल भिन्न था ।

1- फिर वहीं,
2- फिर वहीं,
3- फिर वहीं, पृ0 54

राजनीति के इस क्षेत्र में सिद्धान्तो और हितो को लेकर अनेक प्रकार के पारस्परिक विरोध पाए जाते हैं ।[1]

राजनीतिक संस्कृति, सामान्य संस्कृति का अटूट अंग होती है । जिस प्रकार किसी देश की सामान्य संस्कृति परिवर्तित होती रहती है उसी प्रकार राजनीतिक संस्कृति में भी परिवर्तन होता रहता है । इसी लिए प्रत्येक देश की राजनीतिक संस्कृति प्रत्येक काल में भिन्न होती है और स्वयं एक ही देश मे अनेक उप राजनीतिक संस्कृतियाँ पाई जाती हैं । किसी भी देश की राजनीतिक संस्कृति स्थिर नही रहती वह परिवर्तित होती रहती है भले ही परिवर्तन की गति में अंतर हो । इस बात पर सभी विचारक एकमत है कि सभी देशो की राजनीतिक संस्कृति मे शासक एवं शासित की राजनीतिक संस्कृति मे अंतर पाया जाता है ।[2]

भारत में स्वतंत्रता के बाद भाषा के आधार पर राज्यो के पुर्नगठन की माँग की गई।परिणाम स्वरूप 1956 में भारत में भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया गया । राज्यो के पुनर्गठन के बाद भी नए राज्यो के निर्माण की माँग उठती रही और कुछ नए राज्यो का निर्माण किया गया । परिवहन एवं संचार के साधनो के विकसित होने के कारण देश के विभिन्न भागो में विकसित होने के कारण देश के विभिन्न भागो में रहने वाली जातियाँ एक दूसरे के सम्पर्क में आई और वे एकता मे बंध गई । इससे जातीय भेदभाव बढ़ा और नृजातीय निष्ठा को प्रोत्साहन मिला । राजनीतिक दलो ने इस परिस्थितियों का पूरा फायदा उठाया और विभिन्न निर्वाचको में दल के उम्मीदवारो के चयन से लेकर मतदाताओं के समर्थन को प्राप्त करने तक के लिए धर्म तथा जाति को एक साधन के रूप में प्रयोग किया । स्थानीय तथा प्रादेशिक राजनीति में

1-फिर वही, पृ0 55

2- फिर वही,

सक्रिय रूप से कार्य करने वाले अधिकांश व्यक्तियों के सामने सम्पूर्ण देश के हितों की अपेक्षा अपने प्रदेश जिले तथा ग्राम आदि के हित से अधिक महत्व रखते है ।[1]

इस प्रकार की राजनीति के कारण भारत मे जिस राजनीतिक संस्कृति का विकास हो रहा था, उसका पूर्ण असर 1967 के चुनाव के नतीजे से दिखाई देने लगा ।

भारतीय राजनीति एवं वर्ष 1967 :-

भारतीय राजनीति मे 1967 का वर्ष काफी महत्वपूर्ण वर्ष था, क्योंकि इस वर्ष भारत में स्वतंत्रता के पश्चात् स्थापित एक दलीय राजनीतिक संस्कृति का असर कम होता दिखाई पड़ने लगा । राज्यो मे अनेक क्षेत्रीय दल स्थानीय हितो को प्रमुखता देते हुए राजनीतिक मंच पर उभर कर आए । जिसके कारण 5 राज्यो में विपक्षी दलो ने चुनाव के बाद सरकार बना ली तथा इसके पश्चात् तीन राज्यो में कांग्रेस मे आपसी फूट के कारण कांग्रेस की सरकारे गिर गई । कांग्रेस दल की इस फूट के संदर्भ में फरवरी 1967 का आम चुनाव हुआ। चुनाव के बाद भी कांग्रेस की फूट जारी रही चुनाव के बाद दल-बदल प्रक्रिया शुरू हुई जिसके कारण तीन राज्यों में कांग्रेस सरकार का पतना हुआ।[2] इस दल बदल मे दो बातो का मुख्य हाथ रहा । चुनाव के पहले टिकट का बटवारा और चुनाव के बाद मंत्रिमंडल का गठन । ये कोई नए कारण नहीं थे । नई बात सिर्फ यह थी कि 1967 मे और बाद में जितनी आसानी से लोग

1- रजनी कोठारी - भारत में राजनीति पृ० 123

2- चुनाव में कांग्रेस की हार, मद्रास (यहां अकेले द्र.मु.क. की जीत हुई) बंगाल, बिहार, उड़ीसा मे विरोधी दलो के साझे मोर्चे की जीत हुई इन मोर्चों मे कम्युनिष्ट मार्क्सवादियो से लेकर जनसंघ तक थे । चुनाव के बाद हरियाणा, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश मे दल-बदल के कारण कांग्रेस सरकार का पतन हुआ । - रजनी कोठारी- भारत मे राजनीति पृ० 125 ।

कांग्रेस छोड़ देते थे, उतनी पहले कभी नहीं देखी गई थी कांग्रेस में उनको बांध कर रखने की शक्ति बहुत कम हो गई थी। अब तक चुनाव का टिकट या मंत्रिमंडल में स्थान न मिलने पर भी असंतुष्ट गुट कांग्रेस के अंदर ही बने रहते थे अब वे कांग्रेस से अलग होने लगे।[1] अभी भी पूरी तरह स्पष्ट नहीं हुआ कि लोग अस्थायी तौर पर कांग्रेस से अलग हुए है या स्थायी तौर पर, दोनों ही प्रवृत्तियाँ दिख पड़ती है। फूट की प्रवृत्ति कांग्रेस में ही नहीं, अन्य दलों में भी है। कुछ राज्यों में कांग्रेस से असंतुष्ट गुट ने प्रतिद्वन्द्वी कांग्रेस बना लिया है। 1964 में केरल कांग्रेस की स्थापना हुई, 1966 में बंगाल में बंगला कांग्रेस बनी। 1967 में चुनाव से पूर्व उत्तर के कई राज्यों में जन कांग्रेस बनी। बिहार और उत्तर प्रदेश में असंतुष्ट कांग्रेसियों ने भारतीय क्रांति दल बनाया और बिहार में असंतुष्ट कांग्रेस जनों के एक दल ने विनोदानंद झा के नेतृत्व में जनतांत्रिक कांग्रेस बनाई।[2]

इन कांग्रेसी दलों के निर्माण के बावजूद भी संस्कृति कांग्रेस की ही बनी रही है क्योंकि इनके प्रमुख नेता पूर्व कांग्रेसी ही थे। गैर कांग्रेसी संयुक्त सरकारों के गिरने के बाद अनेक भूतपूर्व कांग्रेसी कांग्रेस में या कांग्रेस से संबंधित दलों में लौट आए। पश्चिम बंगाल बिहार में ऐसा ही हुआ। मध्य प्रदेश में तो कांग्रेस छोड़ने वालों का पूरा गुट कांग्रेस में लौट आया और कांग्रेस को सरकार बनाने में उसने सहायता दी। कांग्रेस छोड़ने वाले जो लोग मुख्यमंत्री बने उनमें से अनेक का केन्द्र सरकार और कांग्रेस से बहुत अच्छा सम्बन्ध रहा। दूसरी ओर कांग्रेस हाईकमान विद्रोहियों को वापस लेने को बहुत इच्छुक न थी,

---

1- कांग्रेस दल में चुनाव टिकट बटने में जो खींच तान होती है, वह कभी-कभी चुनाव से भी ज्यादा महत्व की होती है। इसमें चुनाव से भी ज्यादा जनसाधारण में प्रसार का मौका मिलता है। - रामाश्रयराय सेलेक्शन ऑफ कांग्रेस कैंडिडेट्स - इकनामिक एंड पालिटिकल वीकली फरवरी 11 एवं 18, 1967।

2- रजनी कोठरी -भारत में राजनीति पृ0 127

क्योंकि उसमे नया गठजोड़ उलटने का डर था, जहाँ झगड़ा ज्यादा था वहाँ विद्रोहियों को वापस लाने के प्रयत्न विफल हुए ।[1]

इसी प्रकार कम्युनिस्ट पार्टी भी दो दो और कहीं तीन तीन है । समाजवादी पार्टी भी टूटकर संसोपा और प्रसोपा में बंट गई । और संसोपा मे भी कई गुट हो गए है जो एक दूसरे सेझगड़ते रहते है। जनसंघ में उग्र एवं नरम दो गुट हो गए । स्वतंत्र पार्टी मे लगातार झगड़े होते रहे और अनेक लोग दल भी छोड़ गए । पिछड़े वर्गों, हरिजनो और आदिवासियों में अनेक धड़ थे । इसके अलावा 1967 के बाद गैर कांग्रेसी दलो में भी गठजोड़ होते रहे । अनेक बार ये गठजोड़ बिल्कुल विरोधी और विपरीत दलो में भी हुए हैं । ये गठजोड़ भानुमती के कुनबे जैसे है । फलस्वरूप ये गैर-कांग्रेसी संयुक्त सरकारे ज्यादे दिन न चली । दिसम्बर 1967 से फरवरी 1968 के बीच हरियाणा, पश्चिम बंगाल, पंजाब, उत्तर प्रदेश और बिहार इन पांच राज्यो में संयुक्त सरकारे गिरीं । बिहार मे दो बार ऐसा हुआ । संयुक्त सरकार के टूटने पर बिहार एवं बंगाल में कांग्रेस के समर्थन से संयुक्त मोरचे के अल्पसंख्यक दलो ने सरकार बनाई, किन्तु वह चल न सकी । पश्चिम बंगाल में तो कांग्रेस खुद मिली जुली सरकार में शामिल हुई मगर टिक न सकी । मध्य प्रदेश में मार्च 1966 में संयुक्त दल की सरकार में कांग्रेस विद्रोहियो का गेट निकलकर फिर कांग्रेस में आ गया, और संयुक्त सरकार गिर गई ।

स्वतंत्रता के बाद शक्ति ग्रहण करने के लिए कांग्रेस सभी तरह के लोगों को अपनी ओर खीचने की कोशिश करती रही । सन् 1967 से 1969 के बीच गैर कांग्रेसी दलो की भी यही नीति थी । हिन्दु समाज की भाँति कांग्रेस भी भिन्न और विरोधी विचार और रीति रिवाज वाले समूहो को

1- फिर वहीं,

2- रजनी कोठारी -भारत में राजनीति - पेज 128

एक साथ लाने की कोशिश करती थी और विचारों की एकरूपता के बजाए विचार वैभिन्न्य को सहन करती थी । कांग्रेस शुरू से समूचे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने की कोशिश करती आई है और भारतीय राष्ट्र के अधिकांश तत्व उसमें भी पाए जाते थे। विरोधी दलों ने देखा कि संयुक्त मोर्चा बना करके वे कांग्रेस को हरा सकते है, क्योंकि कांग्रेस को कभी भी देश के 45 प्रतिशत सेअधिक वोट नहीं मिले ।[1] इस नीति के मुख्य प्रतिपादक थे डॉ0 राम मनोहर लोहिया । लोहिया जन्म जात विद्रोही थे और उनका व्यक्तित्व चमत्कारी था । उन्होंने शीघ्र ही समझ लिया कि थोथें विद्रोह से कुछ होना जाना नहीं, इसलिए उन्होंने सत्ता पर एकाधिकार समाप्त करने के लिए विरोधी दलों को एक साथ लाने की कोशिश की । कांग्रेस के विरोधी किसी तत्व से हाथ मिलाने को तैयार रहते थे । कांग्रेस को उखाड़ने के उनके तात्कालिक लक्ष्य से उन्हें सफलता मिली किन्तु इसका कोई स्थायी नतीजा नहीं मिला ।[2]

यह देखने के लिए कि 1967 के चुनाव में पार्टियों की स्थितियों में कितना परिवर्तन आया, हमें उसी पार्टी की बात से आरम्भ करना होगा, जिसकी स्थिति में सबसे कम परिवर्तन हुआ । 1967 के चुनाव के कुछ नए विशेष लक्षण थे जिसका अल्पकालिक असर जरूर पड़ा । ऐसे तत्वों में कांग्रेस ही सबसे प्रमुख पार्टी है, जहाँ तक इस बात का सवाल है कि कुल वोटों में उसे कितने प्रतिशत वोट मिले । कांग्रेस को लोकसभा के चुनावमें 1952 और 1962 में 45 प्रतिशत वोट मिले थे, जब कि इस चुनाव में (1967 में) उसे सिर्फ 4 प्रतिशत कम अर्थात् 40.7 प्रतिशत वोट मिले । इस पार्टी को राज्य विधान मंडलों के चुनाव में जहाँ 1952, 1957, 1962 में क्रमशः 42.2, 44.9 और 43.6 प्रतिशत वोट मिले थे, 1967 में सिर्फ 40.0 प्रतिशत वोट मिले । यद्यपि यह परिवर्तन कोई चौंका देने वाला परिवर्तन नहीं था, किन्तु कांग्रेस के लिए

1- रजनी कोठारी- भारत में राजनीति - पृ0 128

2- फिर वही, पृ0 129

चुनौती देने वाली जो प्रमुख पार्टियां थी उनकी स्थितियों में बड़े परिवर्तन हुए ।[1] 1967 तक कम्युनिस्ट दो हिस्सो- सी. पी. आई और सी. पी. आई (एम) में बंट गए थे । ये दोनो ही एक दूसरे से बिल्कुल पृथक थे और उनके बीच लगातार बैर बढ़ रहा था । हालांकि भारत चीन युद्ध के मसले को लेकर कम्युनिष्टो का दृष्टिकोण दो हिस्सो में बंट गया था, परन्तु विभाजन के बाद सी. पी. आई को मास्को समर्थक और सी. पी. आई. एम को पेकिंग समर्थक कहा जाने लगा था । लेकिन सारी बात की जड़ यह नही थी । उनके बीच मतभेद का जो भारत में कम्युनिस्ट सिद्धान्तों को लागू करने के संबंध में उनके अंदरूनी परस्पर विरोधी विचारों के कारण पैदा हुए थे - मुख्य आधार कांग्रेस और भारतीय राष्ट्रवाद के संबंध में उनके अलग-अलग दृष्टिकोण थे ।[2] सी. पी. आई (प्रगतिशील कांग्रेसियो के साथ सहयोग की बात सोच सकती थी लेकिन (सी. पी. आई. एम.) की नजर में कांग्रेस के लोग जनता के शत्रु (वर्ग शत्रु) थे । सी. पी. आई एम के विभाजन के बाद जो पार्टियाँ बनी थी वे करीब -करीब समान शक्तिशाली थी उनके बीच यही एक महत्वपूर्ण अंतर था कि सी. पी. आई की शक्ति देश के सभी हिस्सो में बिखरी थी जबकि सी. पी. आई (एम) पश्चिम बंगाल और केरल के प्रमुख कम्युनिस्ट क्षेत्रो में खासतौर से असरदार थी । जहाँ तक 1967 के चुनाव का संबंध है, दोनो पार्टियों के बीच जमकर संघर्ष हुआ - शायद इसलिए कि दोनो पार्टियों के बीच कम्युनिस्ट वोटो के लिए होड़ थी और इसी बात से कुछ हद तक इस प्रश्न का जवाब मिल जाता है कि कुल वोटो में कम्युनिस्टो को मिले वोट (दोनो के बीच समान रूप से विभाजित) 1962 मे इस पार्टी को मिले वोटो से कम थे । सोशलिस्ट पार्टियो पी. एस. पी. और एस. एस. पी को मिलाकर कोई विशेष सफलता नही मिली ।[3]

1- गोपाल कृष्ण, वन पार्टी डामिनेंस- डेबलपमेंट्स, पार्टी सिस्टम एंड एलेक्शन स्टडीज- अकेजनल पेपर्स । सेंटर फार स्टडी आफ डेवलपिंग सोसाइटी (नई दिल्ली 1967)

2- पार्टी सिस्टम - कोठारी रजनी पेज - 210

3-फिरवही, पेज-211

कम्युनिस्टो की भाँति सोशलिस्टो को भी लोक सभा और राज्य विधान सभाओं के चुनावो में 1962 में प्राप्त वोटो से भी कम मिले । ऐसी भी बात नहीं कि कांग्रेस की स्थिति खराब होने का फायदा अगर वामपंथी पार्टियों को नही मिला, तो दक्षिणपंथी पार्टियों को मिला हो । स्वतंत्र पार्टी भी, जो 1962 में प्रमुख दक्षिण पंथी पार्टी थी, 1967 में थोड़े ही अधिक वोट पाने में सफल हो गयी । और यह स्थिति तब थी, जब उड़ीसा की सफल गणतंत्र परिषद को स्वतंत्र पार्टी ने अपने में शामिलकर लिया था ।[1]

इस प्रकार 1967 के चुनावो में परिवर्तन परिलक्षित करने वाली या परिवर्तन पैदा करने वाली बात क्या थी ? इस चुनाव में हर पार्टी को मिले वोटो का प्रतिशत बताने वाली कालमो से सम्बन्धित कुछ बातें नोट करने लायक है । एक बात यह है कि सारे देश में सिर्फ एक ही पार्टी थी, जिसने शुरू के तीन चुनावो में लगातार प्रगति करने के बाद 1967 के चुनाव में भारी तरक्की की थी । वह पार्टी थी जनसंघ । काफी कोशिशो के बाद उत्तर भारत के हिन्दी भाषी क्षेत्र के बाहर वह काफी असरदार नहीं बन पायी थी, लेकिन पाँच सम्बन्धित राज्यो में इसने पुराने समर्थन को दृढ़ बनाकर और कुछ नए वर्गों को वोट प्राप्त करके अपनी स्थिति काफी मजबूत बना ली ।[2] इसके अलावा इस पार्टी में चुनाव में उटपटांग एवं बड़ी मात्रा में धन खर्च करके यह सफलता नही प्राप्त की थी , बल्कि उम्मीदवारो की संख्या में सामान्य और सावधानीपूर्वक सुनियोजित ढंग से वृद्धि करके प्राप्त की थी, दूसरी बात यह है कि यद्यपि सोशलिस्टो को कुल मिलाकर पहले से अधिक वोट नही मिले थे, किन्तु एस. एस. पी. को निश्चित ही पहले से अधिक वोट मिले थे ।[3] एस.एस.पी. वामपंथियों में एक प्रमुख गैर कम्युनिस्ट

1- पार्टी पालिटिक्स इन इंडिया, डेवलपमेंट ऑफ ए मल्टी पार्टी सिस्टम पृ0 107

2- फिर वही,

3- फिर वही,

पार्टी बन गई और खासतौर से उन्ही हिन्दी भाषी क्षेत्रो में अत्यधिक गरीब लोग बड़ी मेहनत के साथ अपनाने और अपनी उग्र क्रांतिकारी वाणी के बल पर इसने भी कम्युनिस्टो की तुलना में जनसंघ के साथ अपनी स्थिति सुधार ली । लेकिन इसके साथ इस चुनाव नतीजो से कुछ और महत्वपूर्ण बाते सामने आई, पहली बात यह कि एक राज्य में सीमित कुछ विशेष पार्टियों को सफलता मिली, जैसा कि पहले बताया जा चुका है उड़ीसा में स्वतंत्र पार्टी वस्तुत: नए रूप मे उस राज्य की गणतंत्र परिषद पार्टी थी । इसके अलावा नये व पहले की अपेक्षा छोटे पंजाब राज्य में अकाली दल को पुन: प्रमुख स्थान प्राप्त हो गया, कुल हिस्सो में इस पार्टी का हिस्सा दो गुना हो गया, और इन सबसे बड़ी बात यह थी कि तमिलनाड़ में डी.एम.के. को अचानक भारी सफलता मिली । कुल वोटो में 40% वोट मिले । दूसरी बात अन्य पार्टियों और निर्दलीय दोनो से सम्बन्धित आंकडों [1] से साफ नजर नही आती और वह है कांग्रेस से दल-बदल[1]। कांग्रेस छोड़कर जाने वाले कुछ लोगों ने वर्तमान पार्टी की होड़ में लगभग औपचारिक संगठन बना लिए । अलग होने वालो ने जो संगठन बनाए थे एव एक -एक राज्य मे ही मजबूत थे और राज्य स्तर की अंदरूनी फूट के कारण ही इनका जन्म हुआ था । इसलिए इन संगठनो ने पार्टियो के क्षेत्रीकरण की प्रवृत्ति को मुखरित किया और मजबूत बनाया- अकाली दल और डी.एम.के. पहले से ही क्षेत्रीय पार्टियों के उजागर रूप में विद्यमान थे । इसका प्रमाण इस बात से भी मिल जाता है कि 1969 मे इन पार्टियों से इन पार्टियो को एक अखिल भारतीय संगठन के भीतर लाने की कोशिश में मुश्किले आई । विद्रोह करके दल छोड़ने वालो के संगठनो में सबसे महत्वपूर्ण संगठन ये थे - केरल कांग्रेस (1964 में बन गई थी) (इसमे अधिकांशत: ईसाई समुदाय के वे लोग थे जो कांग्रेस से पृथक हो गए थे ।

1- फिर वही,

जम्मू काश्मीर में नेशनल कांग्रेस, (जब इस संगठन के अधिकांशतः लोग कांग्रेस में शामिल हो गए तो बख्शी ने अपने समर्थकों को बनाने के लिए यह पुराना सम्मानित नाम हड़प लिया, बंगला कांग्रेस इस संगठन का जन्म कांग्रेस नेता अतुल्य घोष के प्राधान्य के खिलाफ पार्टी में पड़ी क्षेत्रीय आंशिक फुट के कारण) और उत्तर प्रदेश में भारतीय क्रांति दल । इसके अलावा काफी संख्या में छोटे-छोटे समूहों और अलग-अलग व्यक्तियों ने पार्टी बदल ली । इसी वजह से निर्दलीय लोगों की संख्या पुनः बहुत बढ़ गई, जबकि कुछ पहले उनकी संख्या कम होती जा रही थी । 1967 में बहुत से और शायद अधिकांश निर्दलीय ऐसे व्यक्ति थे, जो कांग्रेस कार्टिकट पाने में सफल नहीं हो पाए थे ।[1]

इस फूट और दल-बदल के महत्व को देखते हुए यह कहना उचित ही है कि 1967 में कांग्रेस को जो धक्का पहुँचा, उसके लिए कांग्रेसी ही जिम्मेदार थे । लेकिन इस चुनाव की दूसरी विशेषता का पता तब चलता है जब सिर्फ इस बात को ही ध्यान में न रखा जाए कि हर पार्टी को कुल वोटों मे से कितने-कितने वोट मिले- बल्कि इसके साथ यह भी देखा जाय कि हर पार्टी को जो वोट मिले, उनके बल पर उन्हें कितनी-कितनी सीटें मिली ।[2]

इस तरह से विचार करने पर पता लग जाएगा कि कांग्रेस को छोड़कर लगभग हर पार्टी या समूह को कितने-कितने वोट मिले थे उनको देखते हुए उनको मिलीसीटों का अनुपात अधिक था ।

कांग्रेस का अनुभव इसके बिल्कुल विपरीत रहा, क्योंकि उसे 40 प्रतिशत वोटों के बल पर 60-70 प्रतिशत सीटें नहीं मिलती थी। अतः वह केवल 50 प्रतिशत(बल्कि लोकसभा में कुछ ज्यादा और राज्य विधान सभाओं में कुछ कम) पर संतोष करने की आदी हो गई थी। इसके पीछे बात तो सीधी-सादी थी किन्तु उसके लिए बड़ी कोशिश की गई थी । 1967 के चुनाव में हालांकि

1- फिर वही, पृ0109
2- फिर वही, पृ0 112

उम्मीदवारों की संख्या (कुल संख्या और प्रति सीट संख्या दोनों) पहले से भी ज्यादा थी, लेकिन कई राज्यों में विरोधी पार्टियों के नेता चुनाव से पहले ही इस बात की कोशिश कर रहे थे कि वे सब मिलकर कांग्रेस के सामने जबरदस्त चुनौती खड़ी करें और उनकी कोशिश सफल हुई। विरोधी पार्टियों के बीच जमकर सौदेबाजी हुई, क्योंकि उनके बीच यह बात तय नहीं हो पाई कि कौन-कौन सी पार्टी कौन-कौन से चुनाव क्षेत्र, दूसरी पार्टियों के लिए छोड़ दे। फिर भी अन्त में केरल में एक मजबूत संयुक्त मोर्चा बन गया। बंगाल में कुछ हद तक परस्पर विरोधी दो मोर्चे सी.पी. आई. और सी.पी.आई (एम) के साथ आ गए। और आधा दर्जन अन्य राज्यों मे तरह-तरह के चुनाव समझौते हो गए। सीधी टक्कर की इस स्थिति में कांग्रेस को मोटे तौर से कुछ वोटों में उतने ही वोट मिले जितने पहले मिले थे - सच तो यह हैकि लगता है कि वोटों की दृष्टि से कांग्रेस को अपेक्षाकृत ज्यादा वोट मिले।[1] यदि किसी सीट के लिए उम्मीदवार कम हो- लेकिन उसे पहले जितनी सीटें नहीं मिल पाई इसका मतलब साफ है कि विरोधी पार्टियों ने जो चुनाव समझौते किए थे, वे सफल रहे और विरोधी पार्टियों के वोट उन्हीं के ही उम्मीदवारों को ही मिले, अर्थात् उदाहरण के लिए, यदि किसी चुनाव क्षेत्रमें जनसंघ के पक्ष में स्वतंत्र पार्टी का उम्मीदवार बैठ गया तो स्वतंत्र पार्टी को वोट देने वालों ने सुनियोजित ढंग से जनसंघ के उम्मीदवारों को अपने वोट दिए। इसमें वोट देने वालों तथा विचौलियों ने जो अनुशासन दिखाया वह आशा से अधिक था।[2]

इस बात के कारण जान लेने के बाद कि कांग्रेस को इस चुनाव में क्यों कम सीटें मिली? अब सवाल उठता है जब विरोधी पार्टियों ने कांग्रेस को हराने की मिलकर कोशिश की थी तो उन्हें सफलता नहीं मिली थी तो इस बार उन्हें इस काम में सफलता क्यों मिली ? इसका कारण कुछ हद तक तो

1- फिर वही,
2- फिर वही,

नि:संदेह यह था कि 20 साल तक सरकार न बना सकने के कारण विरोधी पार्टियों में जो निराशा पैदा हो गई थी, इसके वजह से उनके बीच सैद्धान्तिक वैमनस्य और व्यक्तिगत अविश्वास दब गया था और शायद यह बात भी थी कि विरोधी दल के नेताओं को आभास था कि जनता में पहले की अपेक्षा अधिक असंतोष एवं निराशा है जिसका फायदा उठाया जा सकता था ।[1] लेकिन कांग्रेस से बाहर की पार्टियों के बीच एकता पैदा करने में शायद अन्य कोई तत्व उतना सहायक नहीं था जितना यह तथ्य कि कांग्रेस स्वयं टूट रही थी और यह पहला मौका था जब कांग्रेस में कोई ऐसा महान नेता नहीं था जो पार्टी को संगठित कर पाता तथा अपने व्यक्तित्व से जनता को भी प्रभावित कर सकता । इस प्रकार कांग्रेस को धक्का लगने के दो कारण थे - आन्तरिक मतभेद एवं विरोधी दलों के समझौते ।[2]

इस प्रकार 1967 का वर्ष उत्तरोत्तर भारतीय राजनीति के अध्ययन के लिए मील के पत्थर केसमान है । क्योंकि 1967 के अध्ययन से यह पता चलता हैकि किस प्रकार 1967 से तथाकथित कांग्रेस व्यवस्था ~~कब~~ टूटी। क्षेत्रीयता एवं जातिवादी तत्वों का भारतीय राजनीति कैसे उदय हुआ ? राजनीतिक संसदीय व्यवस्थाओं में पतन (दल-बदल) क्यों हुआ ? जिनका बाद की भारतीय राजनीति पर असर दिखाई देने लगा, एवं इनका असर दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है, तथा इन प्रवृत्तियों के कारण एक नई राजनीतिक संस्कृति का उदय होता जा रहा है ।

1- फिर वही,
2- फिर वही,

अध्याय - 2

भारत में 1967 से 1989 के बीच राजनीतिक दलों की स्थिति एवं दलीय राजनीति ।

अध्याय - 2

भारत में 1967 से 1989 के बीच राजनीतिक दलों की स्थिति एवं दलीय राजनीति

दल व्यवस्था विस्तृत राजनीतिक व्यवस्था का ही एक भाग है। यह इसकी उप व्यवस्था है तथा इसकी कार्य प्रणाली एक संचालक शक्ति है। प्रत्येक देश में दल व्यवस्था केवल उसकी राजनीतिक परिस्थिति का परिणाम ही नही है, बल्कि उसके इतिहास, संस्कृति भूगोल और अर्थ व्यवस्था का ही प्रतिफल होती है।

राजनीतिक व्यवस्था के उदय तथा ऐतिहासिक विकास ने दलीय व्यवस्था के रूप को निश्चित किया है दलों की विचारधारा, उद्देश्य नीति तथा संगठन इस बात पर निर्भर रहे हैं कि कोई दल कब और कैसे अस्तित्व में आया तथा स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में दलीय पद्धति का किस प्रकार विकास हुआ है! स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ब्रिटिश संसदीय पद्धति के अनुरूप लोकतंत्रीय पद्धति को अपनाने की उत्सुकता ने भारत को राज्य तंत्र चलाने के लिए दलीय पद्धति का शीघ्र गठन करने के लिए प्रेरित किया। इसके लिए सरल और तीव्र विधि यही थी कि राष्ट्रीय आन्दोलन को अग्रदूत भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को नए शासक दल के रूप मेंपरिवर्तित कर दिया जाय।

भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का दल के रूप में तुरन्त परिवर्तन इससे पूर्व हुए आन्दोलनों मे एक मात्र उदाहरण था जिसने अपने-आपको आधुनिक राजनीतिक उपकरण में परिवर्तन कर लिया। इससे भारत में लोकतंत्र के भविष्य, दलीय पद्धति के विकास तथा कांग्रेस दल के संगठन पर काफी प्रभाव पड़ा। इस प्रकार के राष्ट्रीय आन्दोलन परिवर्तन से नई कांग्रेस

§ जिसे अब राष्ट्रीय कांग्रेस कहा जाता है§ संसार मे सबसे प्राचीन तथा बड़े दलो में से एक दल बन गई तथा गैर साम्यवादी दलो में सबसे बड़ा दल बन गई । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एक ऐसा आन्दोलन था जिसका साठ से अधिक वर्षो से धीरे-धीरे विकास हुआ था तथा विचार धारा एवं अन्य विचारों की विभिन्नताके बावजूद उसने अनेक व्यक्तियों का मिला जुला संगठन बनाया जिसका सबसे मुख्य उद्देश्य था स्वतंत्रता की प्राप्ति । स्वतंत्रता के बाद मतैक्य का दायरा सिकुड़ना था और मतभेद उभरकर सामने आने थे । बहुत से गुटो ने विचारधारा, नीति तथा निजी संबंधो के बारे में मतभेदो को स्पष्ट करना शुरू कर दिया ।[1]

भारतीय गणराज्य एक मुक्त समाज है। जो निरपेक्ष राजनीति को प्रोत्साहन देने वाला, जनसंचार माध्यमों का सम्मान करने वाला, विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के बीच शक्तियों का पृथक्की-करण और कानून के शासन के सिद्धान्तों का पालन करने वाला है।[2]

समकालीन भारतीय राजनीति का प्रमुख जोर और संघर्ष नीति, वास्तव में राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की राजनीति, आधुनिकीकरण की राजनीति राष्ट्रीय एकता और विकास की राजनीति पर है । इस संदर्भ में भारत की दल व्यवस्था सामाजिक राजनीतिक परिवर्तन की एक राजनीतिक युक्ति की भूमिका अदा करती है। यह जनता को केवल विधायिका में सीट जीतने और चुनावी राजनीति के लिए प्रेरित नही करती है , बल्कि इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण कार्य जैसे राष्ट्र निर्माण नागरिको के जीवन स्तर को ऊपर उठाने और लोकतांत्रिक पहचान बनाने के लिए उत्साही जनता और उसकी चेतना को उद्वेलित करती है।

1- पार्टी सिस्टम - रजनी कोठारी पृ0 7
2- फिर वही,

भारतीय दल व्यवस्था के तीन महत्त्वपूर्ण नियम रहे है [1]

1- राष्ट्रहित के तीन पक्षो पर आम सहमति स्थापित करना राष्ट्रीय आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण परम्परा के तीन महत्वपूर्ण पक्ष थे, राष्ट्रीय एकता और राजनीतिक समन्वय, राष्ट्रीय सामाजिक आर्थिक विकास तथा राष्ट्रीय सुरक्षा एवं अखंडता । स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले राष्ट्रीय आन्दोलन की गाड़ी के रूप में कांग्रेस की श्रेष्ठता ठीक प्रकार से जनमानस में व्याप्त थी । अतः कांग्रेस ने राष्ट्रीय आम सहमति के विकास के साथ अपने दल को सुरक्षित और लोकप्रिय बनाए रखा । इसकी इस चारित्रिक विशेषता ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय दल व्यवस्था के रूप में इसे उभरने में बहुत अधिक मदद प्रदान की ।

2- राष्ट्रीय आन्दोलन की दूसरी परम्परा का आधार वैचारिक था, जिसमें क्रांतिकारी वामपंथी सेलेकर रूढ़िवादी ,पुनरूत्थानवादी और परंपरावादी दक्षिणपंथी शामिल थे । स्वतंत्रता संग्राम के दौरान राष्ट्रीय आन्दोलन में वामपंथी, मध्यमार्गी और दक्षिणपंथी तीनो के सहअस्तित्व से इसे केवल व्यापक समर्थन का आधार और अखिल भारतीय वैधता ही नही मिली बल्कि इससे विभिन्न दृष्टिकोणो के बीच सामंजस्य और उदारता की एक परम्परा की स्थापना भी हुई जो कि बहुत जरूरी था । यही कारण है जिससे कि भारतीय राज्य व्यवस्था कभी वैचारिक दृष्टि से ध्रुवित नही हुई । वास्तव में संगठित भारत आधुनिक राज्य व्यवस्था का एक उत्कृष्ट और क्लासिक उदाहरण है भारतीय राजनीतिक संस्कृति का यह पक्ष जिसकी जड़ राष्ट्रीय आन्दोलन में है भारत के बहुदलीय व्यवस्था की स्थिति के विकास का एक ढांचा प्रदान करता है ।[2]

1- रजनी कोठारी- भारत में राजनीति पृ0 187

2- फिर वही, पृ0 187

3- देश के महाद्वीपीय विस्तार क्षेत्र में सुपरिभाषित और भिन्न सामाजिक सांस्कृतिक प्रदेश जिनको अपनी निजी भाषा और बोलियां है, जाति एवं उपजाति के विशिष्ट मानदंड सामुदायिक और जनजातीय संगठन शामिल है। इस प्रकार की विभिन्नताओं ने समूहों और दलों के उदय होने के लिए परिस्थितियां एवं लक्ष्य प्रदान किये। भारत के क्षेत्र प्रादेशिक इकाई हैं। राष्ट्रीय स्वतंत्रता की शर्तें और लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था की कार्य प्रणाली के अन्तर्गत क्षेत्र समुचित वैधानिक मांग रखने और आत्म विकास के लिए अपने स्वायत्त अधिकार के लिए आबद्ध थे। यह संघीय व्यवस्था का तार्किक सिद्धान्त है। इसलिए योजना के दो दशकों ने सम्यक विकास के आरंभिक काल के बाद दृढ़ता पूर्वक क्षेत्रीयता (प्रादेशिकता) की बढ़ती मांग स्वाभाविक रूप से आवश्यक थी। इसके परिणामस्वरूप अन्य चीजों के बीच क्षेत्रीय दलों की लोकप्रियता प्रकाश में आई।[1]

इन तीन पक्षों के अनुवर्ती क्रम में भारतीय दल व्यवस्था दो प्रमुख विशेषतायें प्रदर्शित करती है।

1- केन्द्र में बहुदलीय व्यवस्था के ढांचे के अन्तर्गत एक प्रभावी दल।

2- कुछ राज्यों में क्षेत्रीय दलों के संयोजन से राज्यों में संचालित एक बहुदलीय व्यवस्था। कुछ दूसरे राज्यों में राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दलों के संविद सरकार तथा अन्य राज्यों में अखिल भारतीय दलों की शाखाओं द्वारा संचालित दलीय व्यवस्था।[2]

भारतीय दलीय व्यवस्था अद्वितीय रही है। यह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस दल के चारों ओर घूमती रही है। इसलिए इसे प्रभावी एक दलीय व्यवस्था कहा जाता रहा है। यद्यपि भारत में अनेक दल भी रहे हैं किन्तु वे

1- फिर वही,

2- फिर वही, 188

भारतीय दल कांग्रेस निर्वाचक समर्थन में अनेक उतार-चढ़ाव के बावजूद बहुदलीय व्यवस्था के होते हुए भी एक प्रभावी एकल दल के रूप में रही है।[1]

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पिछले चार दशकों में भारतीय दलीय व्यवस्था की कार्य प्रणाली में विकास के सात चरण स्पष्ट दिखाई देते है।[2]

1- 1952-64 राष्ट्रीय आम सहमति का काल।

2- 1964-69 बहुदलीय स्थिति के उदय से विकट संक्रमण का युग।

3- 1969-75 अंतरदलीय संघर्ष में वृद्धि और नई आम सहमति का युग।

4- 1975-77 आपातकालीन सत्ता युग।

5- 1977-80 संविद राजनीतिक व्यवस्था, जनता पार्टी का युग।

6- 1980-89 केन्द्र में कांग्रेस और विपक्ष तथा राज्यों में कांग्रेस और क्षेत्रीय दलों के बीच विकट संघर्ष का युग।

7- 1989 से बहुदलीय स्थिति में बहुदलीय व्यवस्था का संक्रमण काल।

स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रथम दो दशकों (1947-67) में संघीय स्तर तथा राज्यों की राजनीति में लगातार कांग्रेस दल प्रभावी रहा। लेकिन बढ़ते विकास तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था द्वारा उत्पन्न अंतर्विरोधों के ढेर तले दबे भारत को तो सामाजिक विभेदीकरण के प्रक्रिया में गुजरना ही था। आर्थिक विकास की सीमाओं तथा पुरस्कृत (भ्रष्ट) लाभों से संकुचित आकार से भिन्न-भिन्न वर्गों तथा शासक वर्ग के अनेक भागों में परस्पर संघर्ष उभर कर सामने आ गए। भिन्न-भिन्न आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले नए राजनीतिक दल 1950 और 1960 के मध्य में सामने आए। इसके साथ-साथ अनेक पुराने छोटे दलों ने विस्तारशील तथा अधिक चेतन सामाजिक आधार द्वारा अपनी शक्ति में बढ़ोत्तरी कर ली। स्वतंत्र पार्टी, भारतीय क्रांति दल जैसे राजनीतिक दलों ने जन्म लिया। जबकि सी. पी. आई, सोशलिस्ट पार्टी, जनसंघ, तथा

1- फिर वही, 189

2- खान रशीउद्दीन - भारत में लोकतंत्र पृष्ठ 96

डी॰ एम॰ के ने विस्तारशील आर्थिक आधार का लाभ उठाया । कांग्रेस के प्रभुत्व को चुनौती दी गई तथा भारत के कुछ भागों में उसे तोड़ दिया गया । चौथे आम चुनावों में आठ राज्यों में कांग्रेस का शासन खत्म हो गया तथा केन्द्रीय संसद में भी इसे कम स्थान मिले ।[1]

इससे यह बात हुआ कि कांग्रेस हमेशा प्रभुत्वशाली वर्ग नहीं रहा, और इसे अल्पमत वोट ही मिलते रहे हैं, इस बात ने लोगों में संकुचित आधार को सिद्ध कर दिया ।

इस प्रकार 1967 से केन्द्र और राज्य दोनों स्तरों पर एक बहुदलीय स्थिति पैदा हो गई थी । सन् 1989 तक संघीय स्तर पर प्रभावी कांग्रेस दल के निरन्तर शासन के कारण औपचारिक बहुदलीय व्यवस्था का निर्माण नहीं हो पा रहा था ।[2]

(1977-79 में ढाई वर्ष और इसके बाद 1989 को छोड़कर) ।

भौगोलिक विस्तार की दृष्टि से भारत में चार प्रकार के दल प्रभावी हैं । अखिल भारतीय दल, पराक्षेत्रीय दल और स्थानीय दल । विचारात्मक दृष्टिकोण से वाम, दक्षिण, मध्यमार्गी और नेता समर्थक दल होते हैं । वाम दल में कम्युनिस्ट दल और समाजवादी समूह आते हैं और दक्षिण दल में धार्मिक समुदायों और जाति के आधार पर बने पारंपरिक और पुरातनवादी दल शामिल हैं ।[3]

सन् 1957 के दूसरी लोकसभा के आम चुनाव से निर्वाचन आयोग ने अनेक दलों को निर्धारित मानदंड के आधार पर अखिल भारतीय दल के रूप में मान्यता दी है । किसी दल को अखिल भारतीय दल के रूप में मान्यता प्राप्त करने के लिए निर्धारित शर्त यह है कि उसने (दल) विगत आम चुनाव में कम से

1- फिर वही,

2- फिर वही, पृष्ठ 37

3- फिर वही,

कम चार राज्यो में कुल मतदाता संस्था का 4 प्रतिशत वैध मत प्राप्त किया हो ।[1] इस शर्त के आधार पर वर्ष 1957 से 89 तक अखिल भारतीय दलो की संस्था 4 से 8 के बीच रही है । केवल सन् 1952 के प्रथम आम चुनाव के दौरान अखिल भारतीय दल का दावा करने वाले कुल दल 14 थे ।

वर्षो से लोक सभा में दलो के संघटन से प्रकट होता है कि संसद में एक तरफ बहुदलीय स्थिति है तो दूसरी तरफ कांग्रेस दल की प्रभावी स्थिति । वर्ष 1952 से 1989 की चुनाव प्रवृत्ति से स्पष्ट है कि वर्ष 1977 और 1989 को छोड़कर हमेशा ही कांग्रेस दल सभी विपक्षी दलों की तुलना में अधिक सीट और अधिक मत प्राप्त करता रहा है ।

भारत में अखिल भारतीय दल एवं उनकी भूमिका : §1967 से 1989 के बीच §

1- कांग्रेस दल -

पिछले सौ वर्षो से कांग्रेस भारतीय जनता का एक प्रमुख तथा महान राजनैतिक संगठन रहा है । इसके विशाल आकार, प्रसिद्धि तथा प्रभाविता का निर्धारण इसकी उपलब्धि एवं कमजोरियाँ, इसकी मजबूती एवं ढीलापन, इसके साहसपूर्ण कदम तथा त्रासदी इत्यादि सभी ने मिलकर, इसे निर्धारित किया है। 1885 में स्थापित कांग्रेस ने 1920 के बाद से लगभग तीस वर्ष तक राष्ट्रीय आन्दोलन का सक्रिय रूप से संचालन किया है। 1947 में भारत को स्वतंत्रता का श्रेय कांग्रेस को मिला है ।[2]

स्वतंत्रता के प्रारंभिक वर्षो में इसने लोकतंत्रीय मूल्यों की श्रेष्ठता, नैतिकता तथा व्यवहारिकता प्रदान की है, तदुपरांत भारत के जन जीवन को उत्तम बनाए रखने की आस्था बनाए रखी है तथा अब भी अधिकतर लोगों को

1- फिर वही,

2- कृष्ण गोपाल, वन पार्टी डामिनेंस-डेवलपमेंट्स, पार्टी सिस्टम एंड एलेक्सन स्टडीज - अकेजनल पेपर - सेंटर फार स्टडी आफ डवलपिंग सोसाइटी § नई दिल्ली 1967 § ।

यह धारणा है कि कांग्रेस एक प्रगतिशील तथा समाजवादी प्रकार का विशालकाय राजनीतिक दल है ।[1]

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात देश की राजनीतिक परिस्थितियों में पूर्ण परिवर्तन हुआ । इस समय कांग्रेस जनो के समक्ष एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न था कि क्या कांग्रेस को भंग कर दिया जाए ? महात्मा गांधी का विचार था कि "कांग्रेस को भंग करके इसे एक सर्वसेवक संघ का रूप दे दिया जाए। नवंबर 1947 को अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की सभा में बोलते हुए उन्होंने कहा था " मुझे पूरा विश्वास है कि कोई अधूरा उपचार कांग्रेस को नही बचा सकता । इससे तो वेदना और बढ़ेगी । इससे पूर्व कि कांग्रेस में बुराई शुरू हो, इससे पहले इसे भंग कर देना चाहिए । " 1964 तक नेहरू कांग्रेस का नेतृत्व करते रहे इसके पश्चात् अपनी असामायिक मृत्यु तक डेढ़ वर्षो के अल्प काल तक शास्त्री ने इसका नेतृत्व किया ।[2]

सन् 1965 से अक्टूबर 1964 तक श्रीमती इंदिरा गांधी कांग्रेस दल की नेता रही । अनेक राजनीतिक घटनाओं तथा दल विभाजनो के बावजूद उनका दल पर पूरा आधिपत्य बना रहा । 1967 के चुनावो में कांग्रेस को जो धक्का लगा, उसके कारण 1969 में उनके नेतृत्व को एक गंभीर चुनौती मिली, जो उनके सहयोगियों द्वारा थी, लेकिन उसमे उनकी विजय हुई ।[3]

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से ही कांग्रेस देश की एक सबसे बड़ी व्यापक राजनीतिक शक्ति रही, कांग्रेस एक अखिल भारतीय दल और एक क्षेत्रीय सहित स्थानीय दल दोनो ही रही है । राष्ट्रीय और राज्य दोनो स्तरो पर इसकी भूमिका भिन्न रही है । यह एक समष्टि राजनीतिक व्यवस्था है जिसमे समष्टि उप व्यवस्था, गुट , मंच समूह, लॉबी , गोष्ठी भी साथ-साथ

1- फिर वही,

2- फिर वही,

3- फिर वही,

रहे हैं इसके परिणाम स्वरूप कांग्रेस का स्वरूप सम्मिलित रूप से बहुजातीय, बहु सामुदायिक और बहुवर्गीय रहा है इस व्यापक अधिरचना में राजनैतिक व्यवस्था के जो लक्षण प्रदर्शित होते है वे विविध राजनैतिक प्राणियों को प्रकट करते हैं, जो प्रभावी राजनैतिक शक्ति को प्राप्त करने के लिए इस राजनैतिक व्यवस्था के तत्वाधान में मान्यता चाहते हैं।[1]

वस्तुत: कांग्रेस का बहुस्तरीय चरित्र उसकी सबसे बड़ी पहचान है। ये अपने में विभिन्न पारस्परिक विरोधी प्रवृत्तियों को जिनमें विचारात्मक, जातीय क्षेत्रीय तथा हित समूह शामिल किए हुए है, जो राजनैतिक महत्वाकांक्षा सत्ता तथा प्रभाव प्राप्त करने के लिए निरन्तर जीवित रहने की सामान्य इच्छा से संगठित है तथा देश के सबसे विशाल राजनैतिक दल हैं। राजनीति में इसके लचीले स्वभाव का लाभ उठाते हुए, विभिन्न समूह वर्ग अपने स्वार्थ और राजनैतिक लाभ के लिए इसकी नीतियो और दिशाओं को मोड़ना चाहते है[2]

यह महत्वपूर्ण है कि कांग्रेस के अंदर वैचारिक, प्रादेशिक, जातीय और उपजातीय विभिन्नताये व्यापक रूप से अंतर्निहित है। कुछ अन्य दलों की तुलना में कांग्रेस में ऐसी विभिन्नता अधिक संख्या में पायी जाती हैं। इसी कारण कांग्रेस के प्रतिनिधित्व में अधिक भिन्नता पायी जाती है, उदाहरणार्थ पहले भारतीय क्रांतिदल की तुलना में कांग्रेस में जाट अधिक थे। पी. एस. पी. और एस. एस. पी. की तुलना में उनके पूर्व सदस्य कांग्रेस में अधिक थे। सबसे अधिक अनुसूचित जाति के सदस्य रिपब्लिकन या झारखंड पार्टी की अपेक्षा कांग्रेस में ही सबसे अधिक है राजा सामंत, धनी, किसान, जमींदार, भूस्वामी और अभिजात व्यापारी दिलचस्पी रखते थे। अधिकांश रूढ़िवादी, पुरातनवादी, परंपरावादी, हिन्दू मुस्लिम और सिक्ख क्रमश, संघ, भा, ज. पा. मुस्लिम लीग और अकाली दल भी कांग्रेस में ही रहे हैं।[3]

1- फिर वही,

2- फिर वही,

3- फिर वही,

कांग्रेस का राजनीतिक समर्थन ढाँचा बहुत व्यापक है, इसे वास्तविक रूप से भारत उप महाद्वीप के समस्त ग्रामीण पृष्ठ प्रदेश प्रायः सभी नगर एवं कस्बे तथा देश के प्रत्येक प्रदेश से संसदीय चुनावों में संभवतः निरन्तर व्यापक निर्वाचन समर्थन का आधार मिलता रहा है। पिछले नौ आम संसदीय चुनावों में कांग्रेस को प्राप्त व्यापक लोकप्रिय मत समर्थन की प्रतिसंख्या इस प्रकार रही।[1]

1952 - 45%	1957 - 47.8%	1962- 44.7%
1967- 40.8%	1971 - 43.7%	1977 - 34.52%
1980 - 42.7%	1984 - 49.3%	1989 - 39.3%

यद्यपि कांग्रेस को हमेशा ही प्रत्येक चुनाव में 50% से कम ही मत मिलते रहे हैं फिर भी इसे अन्य दलों की अपेक्षा अधिक प्रतिशत मत प्राप्त होते रहे हैं।

कांग्रेस अपनी क्षमता के कारण व्यापक निर्वाचन समर्थन को आकर्षित करके केन्द्रीय सरकार के संघीय स्तर पर लोकसभा के सिवाय वर्ष 1977 एवं 1989 को छोड़कर बहुमत सीट प्राप्त करती रही है इसके फलस्वरूप वह भारतीय संसदीय प्रणाली की बहुदलीय स्थिति में केवल एक प्रभावी दल के स्वरूप में नहीं उभरा, अपितु अपने क्षेत्रीय विस्तार निर्वाचन अपील और राजनीतिक शाखा विस्तार की दृष्टि से कांग्रेस एक एकल अखिल भारतीय दल बन गया। अन्य सभी दल कुछ हद तक पराक्षेत्रीय और बहु-राष्ट्रीय दल यो एकल राज्यीय और क्षेत्रीय दल हैं। इनमे नाम आकांक्षा के रूप में अधिकांश अपने आपको अखिल भारतीय दल होने के दावा करते हैं। कांग्रेस के सदस्य विभिन्न व्यावसायिक समूहों-डाक्टर, अभियंता, तकनीशियन, शिक्षक, सेवा कार्मिक और सभी तरह के श्रमिक वर्ग से नियुक्त किए जाते रहे हैं।

1- रिपोर्ट्स आन जनरल इलेक्शन, इलेक्शन कमीशन, इंडिया ।

वामपंथी दल -

भारत में कांग्रेस के बाद सबसे पुराना दल कम्युनिस्ट पार्टी है । सन् 1917 में अक्टूबर क्रांति के शीघ्र बाद साम्यवाद, समतावादी और शोषण विहीन समाज का आदर्श बन गया । सर्व प्रथम इसकी प्रतिध्वनि भारत के साहित्य और कविताओं में हुई सर्वप्रथम भारत के राष्ट्रकवि सुब्रहण्यम भारती ने इसी अग्रदूत लेनिन के अभिवादन मे कवितायें लिखीं | 17 अक्टूबर 1917 को ताशकंद के निर्वासित क्रांतिकारियों ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की उसके बाद कुछ कम्युनिस्ट नेता भारतीय कांग्रेस के सम्पर्क में आए और दिसम्बर 1921 में कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में उन्होंने एक घोषणा पत्र प्रस्तुत किया|अपनी स्थापना के पाँच वर्ष के दौरान भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की प्रमुख गतिविधियाँ बम्बई, मद्रास, कानपुर और अहमदाबाद, जैसे नगरीय औद्योगिक क्षेत्रो में श्रमिक संघ के मोर्चे तक सीमित थी । इसके बाद इसकी गतिविधियाँ श्रमिक संगठनो से बढ़कर किसान संगठनो और नगरीय बुद्धिजीवियो के बीच पहुँच गई । [1]

जब अगस्त 1947 में सत्ता का हस्तांतरण हुआ तब कम्युनिष्टों ने इसे सच्ची आजादी के रूप में स्वीकार नहीं किया । सन् 1948 के भा. क. पा. के कलकत्ता सम्मेलन में सच्ची राष्ट्रीय आजादी प्राप्त करने के लिए सशस्त्र संघर्ष सहित सामंतवाद पूँजीवाद और साम्राज्यवाद पर आक्रमण की नीति का समर्थन किया गया । पूरे नेहरू युग में भा. क.पा. ही मुख्य विपक्षी दल था । प्रथम लोकसभा में 26 द्वितीय और तृतीय लोकसभा में क्रमशः 27 और 29 सदस्य थे । [2]

सन् 1957 में भा. क. पा. केरल विधान सभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त करने में सफल हुई और भारत में प्रथम कम्युनिस्ट सरकार बनी । सन् 1958 मे भा. क. पा. के अमृतसर सम्मेलन में क्रांतिकारी उग्रवादी वामपंथियो

1- वीनर माइरन -पार्टी पालिटिक्स इन इंडिया, डेवलपमेंट आफ मल्टी पार्टी, सिस्टम पेज - 64

2- फिर वही, ।.

और सुधारवादी वामपंथियों के बीच खुला विवाद पैदा हो गया । इस प्रकार विवाद की स्थिति में केन्द्रीय कांग्रेस सरकार ने सन् 1959 में केरल की कांग्रेस सरकार को भंग कर दिया । 1962 के चीनी आक्रमण ने साम्यवादी राजनीति को बुरी तरह प्रभावित किया, जिसका परिणाम था 1964 में भा. क. पा. में फूट । पश्चिम बंगाल और केरल में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की शाखाओं की मजबूत जनाधार था । अतः केरल और पश्चिम बंगाल की शाखाएं ही भा. क. पा. मार्क्सवादी के निर्माण की प्रमुख केन्द्रक साबित हुई ।

सन् 1967 के ग्रीष्मकाल में उग्रवादी मार्क्सवादी गुट, भा. क. पा. (मार्क्सवादी) से अलग हो गया और उसने भा. क. पा. (मार्क्स, लेनिनवादी) नाम से एक दल कानिर्माण किया । चूँकि इस गुट ने पश्चिम बंगाल के नक्सलवादी क्षेत्र में जमींदारों के विरूद्ध व्यापक हिंसक गतिविधियों का आतंक फैलाया था और इसका व्यापक आधार नक्सलवादी में था, इसलिए प्रायः इस गुट को नक्सलवादी या नक्सली कहा जाता है।बाद में नक्सलवादी ने आंध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम क्षेत्र में अपना पांव जमा लिया ।[1]

भा. क. पा. और भा. क. पा. (मार्क्सवादी) के बीच कुछ विषयों जैसे - भारतीय राज्य व्यवस्था के स्वरूप, राष्ट्रीय बुर्जवा और बड़े बुर्जवा की भूमिका के मूल्यांकन और भारत में लोकतांत्रिक क्रांति लाने के लक्ष्य की प्राप्ति में कांग्रेस दल के योगदान के प्रश्नों पर मतभेद है। इन दोनों दलों ने समाजवाद के लक्ष्य प्राप्त करने की रणनीति तथा राजनीतिक विकास के इस दौर में अन्य दलों के प्रति अपनाए जाने वाले दृष्टिकोण के संदर्भ में भिन्न भिन्न मत हैं ।[2]

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के प्रमुख समर्थन आधार पश्चिम बंगाल, केरल और त्रिपुरा में सबसे अधिक केन्द्रित है। इसका आंशिक

1- फिर वही,

2- फिर वही.

असर आंध्र प्रदेश, बिहार, असम, महाराष्ट्र, उड़ीसा एवं पंजाब में है। भा. क. पा. का विस्तार क्षेत्र मुख्य रूप से आंध्र प्रदेश, असम, बिहार, केरल, मणिपुर, उड़ीसा, पांडिचेरी, पंजाब, राजस्थान और उत्तर प्रदेश में हैं। इसके अलावा यह पश्चिम बंगाल और केरल के वाम मोर्चा के संविद सरकारों मे भी शामिल है।[1]

नौ लोक सभा के आम चुनावो में कम्युनिस्ट पार्टियों को उपलब्धि के अंको पर एक नजर डाले तो स्पष्ट होगा कि अविभाजित भा. क. पा. सन् 1952 में 3.3% एवं 1962 के आम चुनाव में बढ़कर 9.94% हो गया था। सन् 1964 में विभाजन के पश्चात भा. क. पा. और भा. क. पा. (मार्क्सवादी) को संयुक्त रूप से 1967 एवं 1971 में लगभग 10% मत प्राप्त हुए। 1977 में मत प्रतिशत घटकर 7.65% रह गया। पुनः इसमे आंशिक वृद्धि हुई और सन् 1980 में 8.7% 1984 में 8.63% तथा 1989 में 8.93% कुल प्राप्त हुए।[2]

जनता पार्टी :

कांग्रेस के पुनरूत्थान और उसके राजनीतिक स्थायित्व की स्थिति में जो विपक्षी समूह कांग्रेस को सत्ता से बाहर निकालने के अवसरो के तलाश में थे, उन्होने अपनी कार्यशैली बदल दी। उन्होने सार्वजनिक प्रदर्शन, बाजारो एवं नगरो में बलपूर्वक बंद का आयोजन, छात्र आन्दोलन और युवाओं का विरोध, श्रमिक हड़ताल, किसान मार्च, सांसदो एवं विधायको द्वारा त्यागपत्र इत्यादि के माध्यम से कांग्रेस विरोधी जन आन्दोलन का सहारा लिया। जनवरी सन् 1974 में भा. क. पा. (मा.) और जनसंघ ने सामूहिक रूप से महाराष्ट्र बंद का आह्वान किया। कांग्रेस (ओ) और जनसंघ दोनो ने गुजरात में नव निर्माण समिति, का समर्थन किया उत्तर प्रदेश में भारतीय क्रांति दल, समाजवादी

1- फिर वही,

2- रिपोर्ट्स आन् द जनरल इलेक्शन इन इंडिया, इलेक्शन कमीशन, इंडिया

सोशलिस्ट पार्टी एवं मुसलिम मजलिस ने एक चुनावी गठबंधन से कांग्रेस विरोधी मोर्चा बना लिया। बिहार में जय प्रकाश नारायण के नेतृत्व में सम्पूर्ण क्रांति के नारे के अंतर्गत एक जन आन्दोलन शुरू किया गया और मुरार जी देशाई की अध्यक्षता मे एक लोक संघर्ष समिति गठित की गई। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को छोड़कर सभी विपक्षी दलो ने जय प्रकाश नारायण एवं मुरार जी देशाई के नेतृत्व को समर्थन ~~प्रस्तुत~~ किया इसी समय सन् 1975 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने लोक सभा के लिए इंदिरा गांधी के निर्वाचन को रद्द कर दिया। इस निर्णय के परिणाम स्वरूप सभी विरोधी दल इंदिरा सरकार के विरोध में संगठित हो गए। जिसके कारण कांग्रेस एवं इंदिरा गांधी का अस्तित्व खतरे में पड़ गया। उन्होंने देश के विभिन्न भागों में अराजकता एवं व्यवस्था का हवाला देकर जन आन्दोलन को दबाने और अपने अस्तित्व को रक्षा के लिए 26 जून 1975 को देश में आंतरिक आपात स्थिति लागू कर दी।[1]

देश में कानून व्यवस्था को पुनः कायम करने, संसदीय प्रणाली के कार्य की सुरक्षा के लिए प्रशासन की कमियों को दूर करने के लिए, सुरक्षा के लिए आपात स्थिति लगाई गई। किन्तु इससे तो एकाधिकारवादी विकृति को स्थान मिल गया। इस परिवर्तन से सचेत एवं सामान्य स्थिति लागू करने के उद्देश्य से इंदिरा गांधी ने मार्च 1977 में आम चुनाव की घोषणा करके एक साहसिक कदम उठाया किन्तु पहली बार कांग्रेस को बुरी तरह पराजय का मुँह देखना पड़ा मतदाता का कांग्रेस के प्रति इतना मोह भंग और आक्रोश था कि न केवल कांग्रेस विरोधी मतदान ही किया गया बल्कि इंदिरा गांधी को भी अपने निर्वाचन क्षेत्र से हार का मुँह देखना पड़ा।[2]

कांग्रेस के हटाए जाने से जो स्थान रिक्त हुआ उसे भरने के लिए सात प्रमुख कांग्रेस विरोधी दलो के विलय से जनता पार्टी के रूप मे एक नया दल

1- खान रशीउद्दीन -भारत में लोकतंत्र पृ0 101

2- फिर वही, पृ0 102

बनाने की आम सहमति हो गई, जिसे इसके शिल्पी जय प्रकाश नारायण का आशीर्वाद मिल चुका था। ये कांग्रेस विरोधी दल थे मोरार जी देशाई और नीलम संजीव रेड्डी के नेतृत्व वाला कांग्रेस (ओ) चौधरी चरणसिंह और राजनारायण के नेतृत्व वाला भारतीय लोकदल, आडवाणी के नेतृत्व वाला जनसंघ, मधुलिमए और जार्ज फर्नांडीज तथा मधु दंडवते वाली समाजवादी पार्टी जगजीवन और एच. एन. बहुगुणा के नेतृत्व वाला लोकतांत्रिक कांग्रेस। इसके अलावा स्वतंत्र पार्टी के कुछ प्रतिनिधि जैसे पीलू मोदी और मीनू मसानी और पूर्व कांग्रेस के प्रतिनिधि जैसे चन्द्रशेखर, मोहन धारिया और रामधन की जनता पार्टी के निर्माण और उसमे शामिल होने के लिए तैयार थे।[1] इस प्रथम गैर कांग्रेसी सरकार के निर्माण के कुछ सप्ताह बाद ही 1 मई 1977 को जनता पार्टी के रूप में नई पार्टी की स्थापना की गई।

जनता पार्टी के समर्थन का जनाधार मुख्यतः हिन्दी प्रदेशमें उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार हरियाणा, राजस्थान, पंजाब (अकालियो से तालमेल के कारण) इस प्रकार हम देखते हैं कि इसकी मतदाता शक्ति उन्हीं क्षेत्रों में अधिक थी, जिनमें सन् 1967 में कांग्रेस सत्ता से बहिस्कृत हुआ।

जनता पार्टी का शासन अल्पकालिक था यह केवल 28 महीने (28 मार्च 1977 से जुलाई 1979) तक चला, विभिन्न समूहों एवं दलो का एक संविद और समिश्रित दल कांग्रेस आई के स्थाई विकल्प के रूप में उभरने के बाद भी अपना विकास नहीं कर सका। अनेक नीति सम्बन्धी मुद्दे और कार्यक्रम पर जनता पार्टी के उपर से नीचे तक फूट और मतभेद व्याप्त था। इससे जनता पार्टी के शासन की सरकार अपनी उपलब्धियों में कमजोर बनी रही। आंतरिक फूट इसकी सबसे बड़ी सांगठनिक कमजोरी थी। इसके कारण न तो जनता पार्टी के सांगठनिक ढाँचे में परस्पर संसक्ति थी और न ही कोई दूरगामी

1- फिर वही, पे0 102

तथा प्रासंगिक नीति ही थी । अतः आंतरिक फूट और मतभेद के कारण जनता पार्टी स्वयं अपने ही बोझ तले दब कर टूट गयी ।

लोकदल -

जनता पार्टी के विघटन के बाद तीन प्रमुख राजनीतिक दल लोकदल भारतीय जनता पार्टी एवं शेष जनता पार्टी अस्तित्व में आए । जनता पार्टी में फूट तथा मुरार जी देशाई की सरकार के त्याग पत्र देने के बाद चौधरी चरण सिंह के नेतृत्व में लोकदल में कांग्रेस की मदद से अगस्त सन् 1979 में सरकार बनायी। किन्तु यह सरकार लोकसभा में बहुमत सिद्ध न कर सकी । अतः जनवरी 1980 के आम चुनाव तक यह सरकार एक कार्यकारी (प्रभारी) सरकार की हैसियत से अपना कार्य करती रही ।[1]

लोकदल का निर्माण सितम्बर 1979 में हुआ । यह भारतीय लोकदल का ही एक नया रूपांतरण था जिसका कि जनता पार्टी में विलय हुआ था । भारतीय क्रांति दल का एक पुर्नगठित संगठन था जिसे अनेक कांग्रेस विरोधी दलों तथा पुराने कांग्रेसियों को मिलाकर चौधरी चरण सिंह ने अगस्त सन् 1974 में बनाया था । भारतीय क्रांति दल में समाजवादी सोशलिस्ट पार्टी, उत्कल कांग्रेस, स्वतंत्र पार्टी, हरिजन संघर्ष समिति, राष्ट्रीय लोकतांत्रिक दल, किसान मजदूर पार्टी तथा पंजाब खेती बारी, जमींदार संघ शामिल थे। उस समय चौधरी चरण सिंह ने जनसंघ और कांग्रेस (ओ) को भी दल में शामिल होने के लिए आमंत्रित किया था । यद्यपि उन्होंने दल को समर्थन देने का आश्वासन दिया था किन्तु वे उसमे विलय के लिए सहमत नही थे । [2]

लोकदल ने हिन्दी क्षेत्र की मध्यम एवं पिछड़ी जातियों अहीर, गजर, जाट, ठाकुर कुर्मी और भूमिहार को संगठित किया जो दल के मुख्य

1- फिर वही, पृ० 103

2- फिर वही, पृ० 103

आधार थे । समाजवादियों के इसमें शामिल होने से इसका क्षेत्र प्रगतिशील, वर्गों तक हो गया लोकदल के पास भूमिहीन खेत मजदूरों के लिए वास्तविक मजदूरी संबंधी कोई नीति नही थी । इसने प्रत्यक्षत: धनी किसानों तथा भूस्वामियों से ही अपील करी । लोकदल ने हिन्दी प्रदेश के माध्यम और खिचड़ी जातियों से अहीर, गूजर, जाट, ठाकुर, यादव कुर्मी तथा भूमिहीन को संगठित किया । ये ही उसके समर्थन के मुख्य आधार थे । इसके नेतृत्वकारी पदों पर समाजवादियों के आने से लोकदल प्रगतिशील वर्गों के समर्थन पाने की ओर ध्यान दिया गया। इसका चुनाव चिह्न हल जोतता किसानथा ।[1]

भारतीय जनता पार्टी -

भारतीय जनता पार्टी की स्थापना दिसम्बर 1980 में हुई । यह भारतीय जनसंघ 'जिसकी स्थापना श्यामा प्रसाद मुखर्जी की अध्यक्षता में 21 अक्टूबर सन् 1951 में हुई थी' का एक नया पद और संशोधित रूप है । भारतीय जनता पार्टी अपने अनुशासन, सुसंगठन तथा पारम्परिक सामाजिक, सांस्कृतिक हिन्दू संगठनों {राष्ट्रीय स्वयं संघ, विश्व हिन्दू परिषद} से सम्बन्धित मामलों में जनसंघ जैसे ही लगती है तथा थोड़े बहुतपरिवर्तन के साथ राजनीतिक संदर्भ तथा नीति निर्धारण के लिए जनसंघ से घनिष्ठ रूप से जुड़ी है ।[2]

1 मई 1977 को जनसंघ ने अपने दल को स्वयं ही भंग कर दिया तथा नवगठित जनता पार्टी का एक प्रमुख घटक बन गया । अटल बिहारी वाजपेयी और एल.के. आडवाणी जैसे जनसंघ के नेता जनता पार्टी के मंत्री मंडल में मंत्री बनाए गये सन् 1980 में लोक सभा चुनाव में इस दल के पराजित होने

1- फिर वहीपृ. 103

2- फिर वही, पृ0 107

के बाद पहले जनसंघ के अधिकांश नेता, जनता पार्टी से अलग हो गए और उन्होंने इसके बदले भारतीय जनता पार्टी के नाम से एक अलग नए दल की स्थापना की। इसका एक कारण था कि जनता पार्टी के अनेक सदस्य स्वयं सेवक संघ के सदस्य बने रहने पर आपत्ति उठाते थे। जब जनता पार्टी के दूसरे घटकों ने जनसंघ के सदस्यों को राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सदस्य बने रहने पर आरोप लगाया तो उनकी दोहरी सदस्यता का यह विवाद जनता सरकार के पूरे कार्यकाल (1977-79) में लगातार उठता रहा।[1]

अतः जब नये दल के रूप में भारतीय जनता पार्टी का गठन हुआ तब इस नवगठितपार्टीने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के साथ उनकी दोहरी सदस्यता को उचित बताया। भारतीय संस्कृति और मर्यादा की रक्षा में संघ की वास्तविक भूमिका की सराहना की गई और घोषित किया गया कि यही गांधीवादी समाजवाद का आदर्श रूप है जिसको यथार्थ रूप देने की प्रेरणा गांधी जी से लेकर जय प्रकाश नारायण और दीन दयाल उपाध्याय में ढूढने पर विशेष बल दिया गया। भारत में घोषणा और उपलब्धि के बीच व्यापक विचलन की दूरी कोई नई चीज नही है। वास्तव में यह व्यावहारिक रूप से प्रत्येक दल परिलक्षित है। दशकों से भारत समाजवाद शब्द का प्रयोग होता रहा।[2] सभी दल व्यावहारिक रूप से इसके अंतर्वस्तु और वैज्ञानिक अर्थ की ऐसी प्रफुल्लतापूर्ण महत्वहीनता की दृष्टि से प्रयोग करते रहे कि जनता के बीच अलग-अलग व्यक्ति में अलग-अलग अर्थ बोध का विकास हो गया है। एक बार सी.ई.एम. जोड ने कहा था कि - समाजवाद एक टोपी की तरह है जो अनेक भिन्न प्रकार के सिरों में पहनने के कारण अपना आकार खो चुकी है।

अपने पूर्ववर्ती जनसंघ की तरह भारतीय जनता पार्टी का आधार समर्थन विशेषतया हिन्दी प्रदेश में ग्रामीण और नगरीय क्षेत्र के छोटे और मध्यम

1- खान रशीउद्दीन - भारत मे लोकतंत्र पृ0 107

2- फिर वही, 107

स्तर के व्यापारी और दुकानदार, पारंपरिक व्यावसायिक समुदाय के वैश्य तथा जैन तथा पारंपरिक राजनीतिक दृष्टिकोण में विश्वास रखने वाली जनता है । मध्यम स्तर के व्यवसायी तथा नौकरी पेशा के कार्मिकों के बीच भी इसके समर्थक है, विशेषतया सन् 1977 के कुछ मामलों में इसका प्रभाव दक्षिण भारत के प्रदेशों केरल, कर्नाटक और आंध्र प्रदेश तक फैल गया । यद्यपि 1962 से जनसंघ के रूप में इसका प्रभाव पहले से ही इन क्षेत्रों में विद्यमान था ।[1] लोक सभा में जनसंघ और भारतीय जनता पार्टी द्वारा प्राप्त मतों के प्रतिशत में परिवर्तन देखा जा सकता है । सन् 1952 में यह 3.1% तथा 1967 में 9.4% हो गया । अन्य चुनावों में यह 6% से 7% के बीच रहा है। सन् 1989 के चुनाव में भारतीय जनता पार्टी को 11.56% अधिक मत प्राप्त हुआ । यह लोक सभा में 88 सीट प्राप्त करके कुल 16.41% मत प्राप्त करने में सफल रहा । यह इसकी सबसे बड़ी चुनावी उपलब्धि है और इसका प्रभाव मध्य प्रदेश, राजस्थान, गुजरात और दिल्ली में फैल चुका है ।[2]

जनता दल और राष्ट्रीय मोर्चा :

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की इस लम्बी पृष्टभूमि में सन् 1989 में एक नया और महत्वपूर्ण विकास हुआ जिसके दूरगामी परिणाम हुए । कांग्रेस दल के एक विकल्प के रूप में विपक्षी एकता के निर्माण की प्रक्रिया में पहले की अपेक्षा अधिक सुसंगठित प्रयास था । वास्तव में यह प्रभावी एकल दलीय प्रणाली के ढांचे के निर्माण की दिशा में अब तक का सबसे बड़ा प्रयास था ।[3]

मार्च 1989 में चार राजनीतिक संगठनों ने जनता दल के नाम से एक नया दल बनाने का निश्चय किया । ये चार संगठन थे - जनता पार्टी का बहुसंख्यक गुट (चन्द्रशेखर , रामकृष्ण हेगड़े और मधुदंडवते के नेतृत्व वाली जनता पाटी

1- फिर वही, पृ0 108

2- फिर वही, पृ0 112

3- फिर वही, 104,

लोकदल का बहुसंख्यक गुट (हरियाणा के मुख्य मंत्री चौधरी देवीलाल सहित अजीत सिंह गुट (जनमोर्चा (विश्वनाथ प्रताप सिंह आरिफ मोहम्मद खान, अरूण नेहरू और विद्याचरण शुक्ल (तथा राष्ट्रीय संजय मंच (मेनका गाँधी द्वारा निर्मित (। जनता पार्टी के दूसरे गुट का नाम जनता पार्टी (सुब्रहण्यम स्वामी इंदुभाई पटेल और सरोजनी महिषी के नेतृत्व वाली जनता पार्टी (है वह नव गठित जनता दल में शामिल नही हुई । शहाबुद्दीन और जनता पार्टी के अन्य नेताओं ने इंसाफ पार्टी के नाम से एक अलग दल का गठन किया ।[1]

कांग्रेस दल के राजनीतिक आधिपत्य के विरूद्ध जनता दल पुनः एक केन्द्र बिन्दु बन गया । जब जनता दल ने सितम्बर 1989 में तेलुगूदेशम पार्टी, कांग्रेस (समाजवादी (, असम गण परिषद ए.पी.पी. और द्रविड़ मुनेत्र कड़गम के साथ मिलकर एक राष्ट्रीय मोर्चा के निर्माण की पहल की तो उसका उद्देश्य जनवरी 1990 में होने वाले लोक सभा के आम चुनाव के लिए गैर कांग्रेसी मोर्चा बनाना था ।हालांकि यह आम चुनाव नवम्बर 1989 में ही हो गए । पाँच दलो के राष्ट्रीय मोर्चा ने भारतीय जनता पार्टी और, वामपंथी मोर्चा (भा. क पा. (मा(भा.क.पा. (फारवर्ड ब्लाक(तथा आर.एस.पी. सहित (के साथ चुनावी समझौता किया तथा कांग्रेस दल के विरूद्ध मजबूत विपक्षी एकता के लिए सीटो का समझौता भी हो गया ।[2]

विपक्षी दलो की समन्वित रणनीति और एकता के कारण नौवीं लोक सभा चुनाव में कांग्रेस दल बुरी तरह पराजित हुआ । सन् 1977 में जिस प्रकार कांग्रेस ने लोकसभा में अपना बहुमत खो दिया था, लगभग वही स्थिति नौवी लोकसभा में कांग्रेस दल की थी । फिर भी कांग्रेस दल कुल मत 39.3% मत और 194 सीट प्राप्त करके सबसे बड़े दल के रूप में उभर कर सामने आया।[3]

1- फिर वही, पृ0104

2- फिर वही, पृ0 105

3- फिर वही, पृ0 105

सन् 1989 के नौवी लोकसभा के चुनाव मे जनता दल ने 17.7%
मत प्राप्त करके 142 सीटो पर विजय प्राप्त प्राप्त की । इसके चुनावी सहयोग
दल भारतीय जनता पार्टी को 11.56% मत एवं 88 सीटे मिली । जनता दल
के दूसरे सहयोगी दल वामपंथी मोर्चा 10% मत प्राप्त करके 52 सीटो पर विजयी
रहे ।[1]

लोकदल. बी.जे.पी. औरबामपंथी मोर्चा तीनो गुटो ने कुल 282
सीटो पर कब्जा किया था ।

इस चुनाव में किसी एक दल को बहुमत न मिलने से जनता दल को
सरकार बनाने के लिए बी.जे.पी. (88सीट) तथा बामपंथी मोर्चा (52) सीट
के समर्थन पर निर्भर होना पड़ा जो कि आर्थिक विकास के अनेक मुद्दो पर एक
दूसरे के विरोधी हैं ।

नौवीं लोकसभा में निर्मित सरकार एक विशेष परिस्थिति की उपज
है, जो कि हमारे लिए नया अनुभव है । इस प्रकार को हम औपचारिक या
बहुदलीय प्रणाली की कोटि में नही रख सकते हैं, क्योंकि वामपंथी मोर्चा और
बी.जे.पी. ने सत्तारूढ़ दल को केवल बाहर से समर्थन दिया है ।

दलो में फूट, गुटबंदी (पुनर्गठन) सत्ता की राजनीति –

भारत में सत्तारूढ़ दल ने नए राजनीतिक ढाँचे के लिए संसदीय
लोकतंत्र का नमूना स्वीकार किया । इस पद्धति मे दो प्रतिद्वन्दी दलो का
होना जरूरी है जिनके अपने समर्थक वर्ग हो । परन्तु देश मे ऐसे प्रतिद्वंदी दलो
का अभाव था । यहाँ एक कांग्रेस दल की प्रधानता थी । इसलिए प्रतिद्वंद्विता
का तत्व इसी दल के भीतर से आना था । इसके लिए कांग्रेस दल की अपनी
रीति-नीति में परिवर्तन करना जरूरी था अब तक दल में अनुशासन और

1- फिर वही, 105

एक मत पर जोर दिया गया था। अवश्य ही कांग्रेस का संगठन पहले से ही काफी व्यापक था और उसमे अनेक विचारो और वर्गों के लोग थे।[1]

देश में दूसरे मजबूत प्रतिद्वंदी [2] दल के अभाव के कारण कांग्रेस को अपने संगठन के भीतर गुटबंदी को सहन करना पड़ा।

सन् 1967 से 1969 के बीच राजनीतिक दलो ने अपने अनुभव से नए सबक सीखे, जो आगे उसको लेकर नीति में परिवर्तन किया। इस अवधि मे दल-बदल और अवसरवादिता का जोर रहा, उससे लोग विरक्त हुए और नए गठबंधन करते समय नए लोगों को दल में लेते समय कुछ अधिक सावधानी बरतने लगे। 1967 के बाद से कांग्रेस की नीति यही रही कि पार्टी से विद्रोहियों को जाने दो और वह एक स्पष्ट नीति और विचार धारा ग्रहण करने तथा दल में अनुशासन रखने की बात करने लगी।[3] इस नीति में कांग्रेस को 1968 के हरियाणा के मध्यावधि चुनाव में अच्छी सफलता मिली, और 1969 के उत्तर प्रदेश के मध्यावादी चुनाव में भी लाभ हुए दूसरी ओर यह भी स्पष्ट हो गया कि गैर कांग्रेसी दलो के मोर्चों में 1967 के बाद केरल में मार्क्सवादी कम्युनिष्ट मोर्चा, मद्रास में द्र.मु.क. का मोर्चा और उड़ीसा में स्वतंत्र- जन कांग्रेस मोर्चा भी टिकाऊ रहा। क्योंकि ये दल अपने क्षेत्र में ज्यादा संगठित और एकता बद्ध थे और इनको काफी स्थानीय समर्थन भी मिला।[4]

इसके मुकाबले खिचड़ी दलो और भूतपूर्व कांग्रेसियो की संयुक्त सरकारें टिकाऊ नहीं सिद्ध हुई। 1969 में चार राज्यो में मध्यावधि चुनाव हुए (जिसे छोटा आम चुनाव भी कहा जाता है) इसमे क्षेत्रीय पार्टियों के संयुक्त मोर्चे बंगाल एवं पंजाब में विजयी हुए और खिचड़ी दलो का मोर्चा बिहार एवं उत्तर प्रदेश में

1- कोठारी रजनी- द कांग्रेस सिस्टम इन इंडिया पृ0 64

2- कोठारी रजनी - भारत में राजनीति पृ0 129

3- कांग्रेस ने अपनी आंतरिक स्थिति को दृढ़ करने के लिए प्रयत्न किए, देखे मारिस जोंस " द इंडियन कांग्रेस पार्टी-ए डिलेमा इन डामिनेंस" माउन एशियन स्टडीज नं0 2, 1967

4- कोठारी रजनी - भारत में राजनीति पृ0 129

हार गया । केरल मे नेबूदरीपाद एवं बंगाल में ज्योति वसु के नेतृत्व में कम्युनिस्ट पार्टी अपने प्रदेश में बड़ी ताकत रखती है। ये अपनी अखिल भारतीय पार्टी या अन्य राज्यो की मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी से भिन्न तरीके से काम करती है। यद्यपि इन राज्यो मे मिली जुली सरकार है लेकिन प्रधानता उन्ही की है । उड़ीसा की स्वतंत्र पार्टी पुरानी गणतंत्र परिषद का ही दूसरा रूप है । असंतुष्ट कांग्रेस जनो ने कांग्रेस गण-परिषद से मिलकर टिकाऊ सरकार बना ली है। वास्तव में यह पुराने कांग्रेस गण-परिषद के गठजोड़ का ही दूसरा रूप है जिसने 1957 से 1961 तक उड़ीसा में राज्य किया है और जिसे विजया नेहरू पटनायक के नेतृत्व में कांग्रेस के नए गुट ने अपदस्थ किया । पुराना गुट कांग्रेस से निकलकर जन कांग्रेस बन गया और गणतंत्र परिषद राज्य की स्वतंत्र पार्टी बन गई । सबसे मजबूत मद्रास का द्र० मु० क० (डी०एम०के०) है यह एक प्रान्तीय आन्दोलन का राजनैतिक रूप है। इसे दलो के समर्थन की जरूरत नहीं।

पश्चिम बंगाल में कांग्रेस विरोधी संयुक्त मोर्चे (यूनाइटेड फ्रंट) की उल्लेखनीय सफलता मिली चुनाव के पहले ही इस मोर्चे के सदस्यों ने आपस में बातचीत करके चुनाव समझौता कर लिया था । इससे वोटरों को एक स्पष्ट विकल्प मिल गया । पश्चिमबंगाल तथा अनेक राज्यों में भी, कांग्रेस को कभी वोट का पूर्ण बहुमत नही मिला था । इसके विरोधी वोट कई दलों में बट जाया करते थे । इस बार विरोधी दलो ने तगड़ा मोरचा बनाकर कांग्रेस की कमजोरी का लाभ उठाया । 1969 के मध्यावधि चुनाव में कांग्रेस को प्राप्त वोटो की संख्या में कमी नही हुई फिर भी उसको सीटे बहुत कम मिली ।[1] 1969 में बंगाल में दो विशेषताए पाई लक्षित हुई एक तो संयुक्त मोर्चे के विभिन्न दलों के बीच सीटों के बटवारे में आसानी हुई, दूसरे बंगाल में संयुक्त मोर्चे का विचार बहुत दिनो तक चला आ रहा था और जनता के बीच इसका प्रभाव बढ़ा । केरल मे यही प्रवृत्ति 1965 से 1967 के बीच काम कर रही थी । दूसरे ओर जहां विभिन्न

1- फिर वही, पृ0 130

2- कोठारी रजनी - भारत में राजनीति पृ0 129

दलो के प्रभाव क्षेत्र बँटे नही है और संयुक्त मोर्चे का विचार जनता में जोर नही पकड़ पाया है। वहा संयुक्त मोर्चे को उतनी सफलता नही मिल सकती। बंगाल और केरल मे भी संयुक्त मोर्चे अंत में टूट गए।[1]

पंजाब में अकाली दल ने आपसी धड़ो को मिलकार अपना तगड़ा मोर्चा बनाया। इससे उसके प्रतिद्वन्द्वी जनसंघ ने भी उसका साथ दिया बाद में पंजाब में अकाली-जनसंघ जोड़ टूटगया।

इन अस्थिरताओंकी वजह से 1969 के चुनाव में भारतीय जनता ने अपनी राजनैतिक समझदारी का परिचय देते हुए उत्तर, प्रदेश और बिहार मे जनसंघ, संसोपा जैसे गैर कांग्रेसी दलो को स्थिर सरकार न देने के कारण उनके विरोध में मतदान किया।[2]

चुनाव परिणाम का विश्लेषण करने से पता चलता है कि गैर कांग्रेसी दलो के उम्मीदवार बजाय एक दूसरे के कांग्रेस वोटो को ज्यादा काटते हैं। यद्यपि जहा अधिक उम्मीदवार होते हैं वहाँकांग्रेस को अधिक फायदा होता है और उनका उम्मीदवार जीत जाता है, लेकिन उसके वोटो की संख्या गिर जाती है। दूसरी ओर जहाँ कांग्रेस का दूसरे दल या संयुक्त उम्मीदवार से सीधा मुकाबला होता है वहाँ उसके तो बढ़ जाते है, मगर जरूरी नही कि उसका उम्मीदवार जीत जाय। इस प्रकार केरल में 1969 मेंऔर बंगाल में 1969 में जहाँ कांग्रेस को बहुत कम सीटे मिली, वहाँ उसके वोट कम नहीं हुए और केरल में तो बढ़ भी गए। उल्लेखनीय है कि कांग्रेस ने अपने वोट 35 से 40 प्रतिशत तक कायम रखे हैं। केरल और पश्चिम बंगाल में कम्युनिस्टो को और मद्रास में द्रमुक छोड़कर शेष गैर कांग्रेसी दलो का वोट इतना स्थिर नही रहा है।[3]

1- फिर वहीपृ0 130

2- कोठारी रजनी - भारत में राजनीति पृ0 131

3- मारिश जोंस एवं बी दास गुप्त का निष्कर्ष - इंडियाज पोलिटिकल इंटरिम रिपोर्ट आन एन एकोलाजिकल ऐलक्टरल इनेवस्टिगेशन एसियनसर्वे नं06जून 1969।

1967 में कांग्रेस का एक भाग-प्राधान्य टूटने के बाद इनमें से बहुत सी दिक्कतें खत्म हुई - लेकिन इसके बजाए कुछ नई दिक्कते पैदा हो गई। जब अन्य पार्टियां सत्ता में आई तो उन्होंने सत्ता के बाहर रहने के निराशा के सालो की पूरी कसर निकाल ली। कुछ राज्यो में नई सरकारो के मंत्रियों ने हाथ-पैर मारने शुरू कर दिए। उन्हें अनेक वायेद पूरे करने थे, किन्तु मिली सरकारो के अस्थिरता के कारण उनको साफ पता लगता था कि उन्हे अधिक समय नही मिल पाएगा। ऐसी हालत में उन्होंने अपनेमित्रो को पुरस्कार देने तथा शत्रुओं को प्रताड़ित करने के मामलो में जो कार्यवाही की उसकी तुलना अगर उनके पूर्ववर्ती कांग्रेसी मंत्रियों द्वारा की गई कार्यवाही से की जाए तो ऐसा लगेगा कि कांग्रेस के मंत्री सज्जन ही थे। जहाँ प्रशासन नेअपने आपको नए मंत्रियों के अधिक अनुकूल बना लिया वही निराशा का फायदा उठाने कोभीकोशिश कर सकते थे। इस बात का प्रमाण था 1969 का चुनाव जिसमे जनता ने कांग्रेस को वोट दिया। लेकिन यह उस ढंग की तुलना में कुछ नही था, जिस ढंग से पश्चिम बंगाल और केरल मे सी.पी.आई (एम.) के मंत्रियो ने प्रशासन के स्वामी के रूप में सत्ता का प्रयोग किया। स्वयं वामपंथी लोग ही उनकी आलोचना कर रहे थे कि वे संसदीय खेल-खेल रहे थे। सी.पी.आई (एम) की सरकारे यह प्रदर्शित करने के लिए वचन बद्ध थी कि किस प्रकार शासन में रहकर भी क्रांतिकारी संघर्ष कारगर तरीके से आगे चलाया जा सकता है। जिन लोगों के साथ मिलकर उन्होंने सरकारे बनायी थी, उन्होंने जल्दी ही उन पर आरोप लगाने शुरू कर दिए। इन्ही कारणों से सी. पी. आई (एम. एल) के नेतृत्व में दरारे आई, जिसका परिणाम सरकारो के पतन तक पहुचा।[1] इसके कारण सी.पी.आई. (एम.एल.) दो समूहो में बंट गयी तथा नागी रेड्डी के नेतृत्व वाले आंध्र माओवादी को छोटे-छोटे गुटो में विभाजित हो गए चारू मजूमदार तथा नागरेड्डी की बहुमत ने मान्यता देने से इंकार कर दिया।

1- फिर वही,

घोर गुटवाद के इस काल के बाद जेल से छह उच्च कोटि के साझेदारी नेताओं ने एक खुले पत्र के द्वारा नई पहल की । यह पत्र अगस्त तथा अक्टूबर 1972 के बीच भारत की भिन्न-भिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ था । एकता के लिए ताजा प्रयत्नो के आह्वान के साथ, जिसमें भिन्न-भिन्न समूहो द्वारा अपनी-अपनी स्थिति का जायजा लिया गया ।[1] ये प्रयत्न आज तक भी जारी है और तेरह सी.पी. आई. § एम.एल.§ समूहो द्वारा 1981 के प्रारम्भ मे मिले-जुले कार्यक्रम की घोषणा की गई ।

भारत में विरोधी दलीय प्रणाली विचित्र सी है। विचित्रता केवल इस बात की नही कि जितने आर्थिक गुट तथा हित है, लगभग उतने ही राजनीतिक दल है, ~~बल्कि इनमें से बहुत से राजनीतिक दल है, बल्कि~~ इनमे से बहुत से राजनीतिक दलों का जन-समर्थन आधार बहुत छोटा है, सामाजिक आधार संकुचित है तथा भौगोलिक आधार भी परिसीमित है । इनमे से बहुत से दलीय संप्रदायवादी तथा क्षेत्रीय है और इनका कांग्रेस के साथ पूरी तरह ध्रुवीकरण भी नहीं हुआ है ।

सन् 1970 से आरम्भ होने वाले दशक के आरंभिक वर्षो से पहले कांग्रेस का विरोध प्राय:संगठन के अन्तर्गत उसके विभिन्न हिस्सो मे ही पाया जाता था, या फिर कभी-कभी शासक दल के वैचारिक दायरे में इसे व्यक्त किया जाता था । परन्तु 1969 में सिंडीकेट गुट के विकास और 1971 के चुनाव में कांग्रेस की व्यापक सफलता ने संगठन में आंतरिक विरोधी व्प्रक्रिया को एक प्रकार से समाप्त कर दिया । इसके द्वारा कांग्रेस व्यवस्था में शक्ति से अत्यधिक केन्द्रीकरण और प्रभुत्व की प्रक्रिया का आरम्भ हुआ निःसंदेह इनमे से कुछ प्रवृत्तियों का आर्थिक क्षेत्र की घटनाओं से निकट का संबंध था ।

1- 24 अक्टूबर 1972 , नवभारत टाइम्स पृ0 ।

सन् 1970 के दशक के शुरू के वर्षों में स्पष्ट होने लगा था कि अर्थ व्यवस्था इतनी अच्छी न थी वह भारत पाक युद्ध 1971-72, लगातार सूखा और सबसे अधिक पेट्रोल की कीमतों में वृद्धि के दबाव को सहन कर सकती थी। 1969-74 के मूल्य सूचकांक में 58 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि सरकारी कर्मचारियों के विभिन्न वर्गों की आय में इतनी बढ़ोत्तरी नहीं हुई। कुल मिलाकर भारतीय अर्थ व्यवस्था गंभीर संकट की स्थिति में थी। 1970 के आरंभिक वर्षों में श्रमिक वर्ग और उनके संगठनों ने अनेक आन्दोलन और विरोध आयोजित किए। इन आन्दोलनों में 1974 की रेलवे हड़ताल और जय प्रकाश नारायण का आन्दोलन थे।[1]

सन् 1974 के गुजरात आन्दोलन और 1974-75 के बिहार आन्दोलन ने कांग्रेस स्थानीय नैतिक और राजनीतिक भ्रष्टाचार की ओर ध्यान दिलाया। गुजरात और बिहार दोनों ही आन्दोलनों में मुख्य रूप से धनी किसान और मध्यम वर्ग के लोग सक्रिय थे। वास्तव में गुजरात में धनी किसानों ने इस आन्दोलन का उपयोग भूमि की अधिकतम सीमा और धान की उगाही समाप्त करने के लिए किया।[2]

कांग्रेस सरकार के विरुद्ध असंतोष की इस स्थिति का फायदा उठाते हुए विरोधी दलों ने एक कंधे से कंधा मिलाया और गुजरात में 1975 के चुनाव में विजय प्राप्त की।[3] 1976 में होने वाले लोकसभा चुनावों को सामने रखकर और परिस्थितियों को देखते हुए गैर कांग्रेसी संगठन के निर्माण की गतिविधियाँ तीव्रता से आरम्भ हुई। विरोधी दलों में सहयोग की प्रक्रिया को एक घटना ने और प्रोत्साहित किया। यह घटना थी 1975 में

1- 1976 के गुजरात विधान सभा चुनाव एशियन सर्वे -मार्च 1976

2- फिर वही,

3- फिर वही,

इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा श्रीमती गाँधी के रायबरेली चुनाव क्षेत्र से चुनाव को अवैध घोषित करने का निर्णय ।

विरोधी दलों ने इस निर्णय को एक महान उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत किया । श्रीमती गाँधी के नेतृत्व में तथा कथित कांग्रेसी भ्रष्टाचार के विरूद्ध उनके अभियान को जैसे न्यायिक वैधता प्राप्त हो गई थी । विजय के उल्लास में पाँच विरोधी दलों ने एक मोर्चा कायम किया और प्रधानमंत्री से तुरन्त त्यागपत्र की माँग को लेकर सत्याग्रह की योजना बनाई । लोक संघर्ष समिति के नाम से आरम्भ इस मोर्चे ने राष्ट्रव्यापी अवज्ञा आन्दोलन की विस्तृत योजना बनाई और जनता का आह्वान किया कि वह श्रीमती गाधी के तुरन्त पद त्यागने की मांग मनवाने के लिए प्रत्येक निषेधाज्ञा, कानूनन गिरफ्तारी, पुलिस आक्रमण आदि का उल्लंघन करें । इस व्यापक योजना के क्रियान्वित होने से पहले ही इसे आपात स्थिति की घोषणा करके दबा दिया गया ।

श्रीमती इंदिरा गाँधी द्वारा मार्च 1977 में चुनाव करवाने के निर्णय के बाद जय प्रकाश नारायण जैसे साधक के कारण जनसंघ सहित सभी विरोधी दलों ने संयुक्त चुनाव मोर्चे की स्थापना के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया ।[1] परन्तु भारतीय लोकदल ने उत्तर भारत मे संविद सरकारों की असफलता के अनुभव के आधार पर विरोधी दलों के बिखराव और बिस्तार को समाप्त करने की आवश्यकता को बतलाते हुए गैर साम्यवादी विरोधी दलो के विलय का प्रस्ताव रखा ।[2] समाजवादी पार्टी और कांग्रेस (स) इतने कम समय की सूचना पर विलय की सफलता के बारे संदेह व्यक्त किए । उन्होंने विलय के विरूद्ध सचेत किया और एक संघीय दल के निर्णय का प्रस्ताव रखा । कुछ सप्ताह की गंभीर बातचीत और विवाद के बाद तत्कालीन चुनाव के लिए सर्वदल मान्य उम्मीदवारों की सूची, एक ही चुनाव चिन्ह, झंडे और चुनाव

1- भाम्बरी सी. पी. - जनता पार्टी 1989

2- फिरवही,

घोषणा पत्र पर सहमति हुई । इस संगठन ने 1977 के चुनाव के लिए नागरिक स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक अधिकारों के हनन " जैसे विषयों को चुनावी मुद्दा बनाया । इस संगठन ने मिलकर मार्च 1977 का लोक सभा चुनाव लड़ा और जीता तथा इसने मई 1977 को औपचारिक रूप से जनता पार्टी की स्थापना की ।

जनता पार्टी द्वारा मार्च 1977 में राष्ट्रीय स्तर पर पहली बार गैर-कांग्रेसी सरकार के निर्माण से भारत में द्विदलीय व्यवस्था के उदय की जो आशायें बंधी थी वे दो वर्ष के भीतर ही समाप्त हो गई। जुलाई 1979 में जनता पार्टी में सांप्रदायिकता और निष्ठा के प्रश्न को लेकर विघटन हो गया तथा दल दो भागों में बंट गया । लेकिन इस विघटन का मुख्य कारण गुटबंदी थी । जनता पार्टी के आंतरिक विरोधाभास, दल के विभिन्न घटकों द्वारा अपनी स्थिति को मजबूत बनाने के गुटबंदी के कारण और अधिक तीव्र हो गए और दल को पतन की ओर ले जा रहे थे । यह गुटबंदी भारतीय लोकदल एवं जनसंघ में विशेष थी । यही दोनों जनता पार्टी के अत्यधिक शक्तिशाली घटक थे और निश्चित तथा प्रभावशाली समर्थन पर आधारित थे । इसलिए दोनों ही दल की विचारधारा संगठन और शक्ति के ढांचे को प्रभावित करने की होड़ थी । इस प्रकार से जनता शासन के दौरान सांप्रदायिक हिंसा, जाति, प्रतिद्वंदिता और भूमिहीन हरिजनों पर अत्याचार आदि इसगुटबंदी के परिणाम थे । यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि जनता पार्टी, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को अलग करने में पूरी तरह से निष्फल रही ।[1] अंतत: लोकदल तथा कुछ अन्य सदस्यों ने जनसंघ और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के आपसी संबंधों को लेकर जनसंघ को दुर्बल करने का प्रयत्न किया, परन्तु यह प्रयत्न जनता पार्टी को ही खंडित कर बैठा ।

1- फिर वही, पृ0 214

1977 के लोक सभा चुनावो में जनता पार्टी के वैध मतो का प्रतिशत 43.17 था, जब कि लोकसभा मडसको सदस्य सख्या 54.93% रही ‡ मत प्रतिशत के आधार पर जनता ने लगभग 1971 वाली कांग्रेस की स्थिति प्राप्त की ‡ 1977 में ही राज्यों की विधान सभाओं के चुनावो में जनता पार्टी को उत्तर भारत के लगभग सभी राज्यो में व्यापक बहुमत प्राप्त हुआ ।[1]

लेकिन विघटन के पश्चात्, 1980 के लोक सभा चुनावो में स्थिति बिलकुल विपरीत हो गई । इस चुनाव में जनता पार्टी को मात्र 31 स्थान मिले, इसका मत प्रतिशत मात्र 19 था । जनता पार्टी से अलग हुए लोकदल को इस चुनाव में 9.4% मत और 41 स्थान प्राप्त हुए । इस प्रकार दोनो मिलाकर कुल 28.4% मत मिले, परन्तु बंटवारे के कारण इनके स्थानो में अधिक गिरावट आई । जहाँ जनता पार्टी को देश के कुछ प्रमुख नगरो में समर्थन प्राप्त हुआ, वही लोकदल को उत्तर प्रदेश के ग्रामीण कृषक मध्य वर्ग और बिहार तथा उड़ीसा में कुछ पिछड़ी जातियो से समर्थन मिला । 1980 केलोकसभा चुनाव के बाद जनता पार्टी का एक और विघटन हुआ और जून 1980 में राज्यो के चुनाव में इसका तीसरा घटक यानी बी.जे.पी. भी अलग से प्रत्याशी थी । इस चुनाव मे लोकदल और भा.ज.पा. दोनो ही जनता पार्टी से आगे रहे । दिसम्बर 1984 में भा.ज.पा. का समर्थन और कम हो गया और वह कुल मतों का 7.03% रह गया, इस प्रकार से लोकसभा में 10 स्थान ‡केवल ‡ प्राप्त हुए । इन चुनावो मे लोकदल को 5.94% मत तथा 4 स्थान प्राप्त हुए और भा० ज० पा० को 4.72% मत तथा केवल दो स्थान मिले ।

मई 1982 में चार राज्यो में विधान सभाओं के चुनाव ने फिर इन दलों के समर्थन और आधार की पुष्टि की । लोकदल और भारतीय जनता पार्टी को ही केवल उत्तर भारत‡ अर्थात् 1982 मे हरियाणा तथा हिमाचल ‡ मे ही

1- जी.जी. मीरचंदानी -पीपुल वर्डिक्ट 1980 पेज- 33

2- फिर वही,

सफलता मिली । हरियाणा के ग्रामीण क्षेत्रो में लोकदल और कुछ नगरो में भा.ज.पा. सफल रहे । हिमाचल प्रदेश में ग्रामीण एवं बाहरी क्षेत्रो में भा.ज.पा. सफल रही ।[1] दूसरी ओर पश्चिम बंगाल एवं केरल में इनका अस्तित्व न के बराबर रहा । जनता पार्टी सभी राज्यों में नाम मात्र के लिए रह गई । 1984 के लोकसभा चुनावो में इन पार्टियों की स्थिति और भी खराब हो गई जिसमें जनता को 11, लोकदल को 3 और भा.ज.पा. को दो स्थान मिले। जनता पार्टी कर्नाटक में सफल रही और अप्रैल 1989 तक इस प्रान्त में शासक दल के रूप में स्थापित थी । आंतरिक मतभेद विशेष रूप से जनता दल में सम्मिलित होने के पश्चात की गुटबंदी से इसमे दरारे आ गई और अन्त में राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया ।

जनता पार्टी की तरह ही दिसम्बर 1984 में हार के पश्चात लोकदल ने क्षेत्रीय आधार पर स्वयं को सुदृढ़ करने के प्रयत्न किए । 1987 में हरियाणा में लोकदल और भा.ज.पा. ने मिलकर चुनाव लड़ा और सरकार बनाने में सफलता प्राप्त की ।

इस प्रकार 1984 में कांग्रेस को अभूतपूर्व सफलता मिली तथा जनता, लोकदल और भा.जा.पा. निम्नतम बिन्दु पर आ गई । भारत में राष्ट्रीय स्तर पर एक सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था की कमी, क्षेत्रीय तथा विकास की प्रक्रिया के लाभों के असमान वितरण के कारण किसी भी राजनीतिक दल के लिए अधिक समय तक राष्ट्रीय स्तर पर सफलता प्राप्त करना दिन प्रतिदिन कठिन होता जा रहा है। एवं विरोधी दलों का मुख्य उद्देश्य कांग्रेस(इ) का एक विकल्प प्रस्तुत करना हो गया है। इस लक्ष्य की प्राप्ति का उदाहरण है जनता दल का 1988 में गठन अर्थात् किसी भी तरह की गुटबंदी से सत्ता को हासिल करना ।

1- टाइम्स आफइंडिया, 20 नवम्बर 1984 ।

2- टाइम्स ऑफ इंडिया, 14 दिसम्बर 1984 ।

जनता दल की स्थापना 11 अक्टूबर 1988 को बंगलौर में हुई। जनता दल का नाम जनता पार्टी के शब्द जनता एवं लोकदल के शब्द दल को लेकर रखा गया। जनता पार्टी, लोकदल, जनमोर्चा तथा कुछ अन्य छोटे दल तथा गुट इसमें सम्मिलित हुए। निःसंदेह जनता पार्टी, लोकदल, जनमोर्चा के समस्त गुट जनता दल में सम्मिलित नही हुए तथा इस प्रकार औपचारिक रूप से अब भी जनता पार्टी, लोकदल तथाजनमोर्चा का अस्तित्व बना हुआ है। परन्तु इसमें संदेह नही कि इन दलो का प्रभावी बड़ा तथा वास्तविक भाग जनता दल में मिल गया। दल ने विश्वनाथ प्रताप सिंह (कांग्रेस द्वारा निष्कासित जनमोर्चा के नेता) को अपना अध्यक्ष बनाया, तथा मूल रूप से जनता पार्टी (1977) के संविधान को नए दल के संविधानिक आधार के रूप में अपनाया है। इसने जनता पार्टी के चुनाव चिह्न तथा ध्वज को अपनाया है।[1]

जनता दल के कार्यक्रम विश्लेषण (समाचार पत्रो की स्वतंत्रता, न्याय पालिका के निष्पक्षता नागरिको के अधिकारो की रक्षा, सत्ता के विकेन्द्रीकरण भ्रष्टाचार समाप्ति) से स्पष्ट होता हैकि यह मूलतः मध्य विचार वाला दल है। परन्तु कार्यक्रम पर दल में आंतरिक मतभेद है। मतभेद मुख्यतः व्यक्तित्व संघर्ष, जातीय मतभेद तथा तीसरा सामाजिक आर्थिक नीतियों में अंतर को लेकर है। दल के स्थापना के दिन से मतभेद तीव्र रूप से विकसित हो रहे है जिससे कि इस दल की सफलता पर संदेह व्यक्त किया जा रहा है। इसको देखकर प्रश्न यह उठता है कि जनता दल केवल कांग्रेस(ई) का विरोधी है, यह वह राष्ट्र के सामने एक वैकल्पिक व्यवस्था का आधार प्रस्तुत करने की क्षमता रखता है ? दल की प्रवृत्ति, क्षमता तथा सफलता भारत में विकसित होने वाली दलीय व्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

1- खान रशी उद्दीन - भारत में लोकतंत्र पृ0 107

अध्याय - 3

क्षेत्रवाद

अध्याय - 3

क्षेत्रवाद

भारतीय समाज एक पारम्परिक पुरातन एवं प्रतिष्ठित समाज है। यह विश्व की सर्वाधिक प्रामाणिक और जटिल संघीय राज्य व्यवस्था है। मानव इतिहास में विश्व के किसी भी भाग में इतनी व्यापक महाद्विपीय विस्तार की भू-भागीय संप्रभुता नही थी और न अभी तक है जितना कि अपने सामाजिक सांस्कृतिक संघटन में आज के भारत में स्पष्टया प्रत्यक्ष रूप से संघीय राज्य व्यवस्था है। भारत मे जातीय विभाजन सांस्कृतिक प्रतिमान, सामाजिक रीति-रिवाज, धार्मिक विश्वास, भाषा और बोलियाँ, प्रादेशिक एवं उप प्रादेशिक पहचान की विभिन्नता एवं अनेकता का बहु आयामी स्वरूप स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि भारतीय जन-मानस में एकता की स्पष्ट छाप बनी हुई है, फिर भी इन विद्यमान सामाजिक, सांस्कृतिक विभिन्नताओं और असमानताओं के बीच एक नयेऔर स्थायी संघ राष्ट्र की पहचान बनाए रखने के लिए विशेष बल देने की आवश्यकता है।[1]

स्वतंत्रता के बाद से भारतीय राजनीति का प्रमुख तत्व क्षेत्रवाद रहा है, जिससे राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता प्रभावित हुई। आमतौर पर क्षेत्रवाद का अर्थ किसी क्षेत्र के लोगों की भावना एवं

1- खान, रशीउद्दीन -भारत मे लोकतंत्र पृ0 22।

प्रयत्नो से है, जिसके द्वारा वे अपने क्षेत्र विशेष के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक शक्तियों में वृद्धि चाहते हैं। यहाँ क्षेत्र वह सामाजिक स्थिति है जो किसी एक भूभाग से सम्बन्धित सामाजिक समूह के लक्ष्यों की एकरूपता का केन्द्र है। किसी भी क्षेत्र के लोगों के पृथक स्वरूप के लिए प्रमुख बात वहाँ के लोगों में आपसी समानता और एकरूपता तथा अन्य क्षेत्रों से अलगवान की भावना है।[1]

व्यापक अर्थ में क्षेत्रवाद "केन्द्रवाद" के विरुद्ध आन्दोलन है। संकीर्ण अर्थ मे यह सम्पूर्ण देश की तुलना में स्थानीय या किसी क्षेत्र विशेष के प्रति लोगों के लगाव को प्रकट करता है। इस कारण क्षेत्रवाद को बहुधा स्थानीयवाद, संकीर्णवाद तथा पृथकतावाद प्रादेशिकता से समीकृत किया जाता है। किन्तु यह नकारात्मक दृष्टिकोण है। क्षेत्रवाद स्वयं में, उभरती राष्ट्रीय संस्कृत के विभिन्न घटकों को अभिव्यक्ति के वैध मार्ग प्रस्तुत करके राष्ट्र निर्माण में सकारात्मक योग दे सकता है।[2]

क्षेत्रवाद के आत्म निष्ठ घटक का सम्बन्ध किसी मानवीय सामूहिकता या समूह के सहभागी मूल्यों, आस्थाओं, विश्वासों, परम्पराओं साहित्य और कला रूपों, भाषा, सामाजिक विरासत से होता है। यह मुख्यतया, मनोवैज्ञानिक सांस्कृतिक विशिष्टता है। वस्तु परक दृष्टि से इसके, संघटक भौगोलिक क्षेत्रीय व पर्यावरणीय जटिलता है। इसमें कोई क्षेत्रीय समूह विशेष रहता है। बहु आयामी घटना होने से यह हमारी ऐतिहासिक बहुलवाद के अंदर बैठा है।

1- भारतीय शासन एवं राजनीति ने सुशीला कौशिक।

2- फिर वही,

भारतीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में क्षेत्रीयवाद से अभिप्राय है - राष्ट्र की तुलना में किसी क्षेत्र विशेष अथवा राज्य या प्रान्त की अपेक्षा एक छोटे क्षेत्र से लगाव , उसके प्रति भक्ति या विशेष आकर्षण का दिखाना । भारतीय राजनीति के संदर्भ में यह एक ऐसी धारणा है जो भाषा , धर्म, क्षेत्र आदि पर आधारित है और जो विघटनकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देती है । क्षेत्रवाद की भावना सारे देश में व्याप्त है, जो कि प्रायः सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित आन्दोलनों तथा अभियानो के रूप में प्रकट होती है ।[1]

भारत न केवल भौगोलिक दृष्टि से एक विशाल देश है, अपितु वैचारिक, परम्परा, धर्म, संस्कृति से भी इसकी विशालता प्रकट होती है । स्वतंत्रता की बेला पर भारत दो भागों में विभक्त था - ब्रिटिश भारत के प्रान्त एवं देशी रियासतें । ब्रिटिश भारत में राजनीतिक चेतना तो जागृत हुई किन्तु ब्रिटिश भारत के प्रान्तों का विभाजन अंग्रेजों ने तार्किक आधार पर नही किया, अपितु अपने न्यस्त हितो को ध्यान में रखकर किया। स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रीय नेतृत्व के सामने सबसे बड़ी चुनौती राजनीतिक एकीकरण की थी । इस प्रकार प्रारम्भिक रूप से दो समस्याये सामने आयीं- राज्यों का भारतीय संघ में विलय और भारतीय संघ के अन्तर्गत केन्द्र राज्यों का निर्धारण । इन दोनो समस्याओं के सन्दर्भ में विभिन्न क्षेत्रो का भारतीय मानचित्र में पुनर्सीमांकन एक चुनौती थी। इस तरह क्षेत्रवाद का उदय ब्रिटिश शासन की विरासत है । भाषा, राजस्व स्रोतो के

1- कौशिक सुशीला - भारतीय शासन एवं राजनीति से ।

बॅटवारे, स्वायत्ता को लेकर दिन प्रतिदिन क्षेत्रवाद को भावना को बढोत्तरो हो रहो है ।

भारतोय राजनोति में क्षेत्रवाद के कारण

§1§ भौगोलिक सांस्कृतिक :

भौगोलिक सांस्कृतिक तत्व भारत में सामाजिक विविधता को जड़ और क्षेत्रवाद तथा अन्य संकोर्ण प्रवृत्तियों के प्रमुख आधार है। ये तत्व स्वयं अनेक खंडो से मिलकर बनते है । सभी खण्ड न केवल अपने आपमें महत्वपूर्ण है बल्कि अन्य तत्वो के संदर्भ में काफो सक्रिय है । वास्तव में इनका सांस्कृतिक रूप हो इनको वास्तविक भूमिका को प्रकट करता है । इसका एक पहलू व्यक्तियों में पारंपरिक सामुदायिक भावनाओं के अस्तित्व का बना रहना है इससे तात्पर्य ये है कि किसो भो व्यक्ति में सामाजिक मान्यातायें और निष्ठा संबंधो दृष्टिकोण समाजोकरण को प्रक्रिया द्वारा बचपन और किशोरावस्था मे हो स्थापित हो जाते हैं । ये सुदृढ़ भावनाएं बाद में आसानो से परिवर्तित नहों को जा सकतो हैं । समाजोकरण को प्रक्रिया में परिवर्तन किए बिना व्यक्तियों में स्थापित होने वाले सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन यदि संभव नहो तो कठिन अवश्य है । अनेक विकासशोल देशो को भांति भारत में भो जनसंख्या के अधिकतर भाग को समाजोकरण को प्रक्रिया को आदिकालोन ढांचे में सांस्कृतिक परिवर्तन अथवा बदलाव नहों आया है परिणाम स्वरूप धर्म, जाति, भाषा तथा अन्य सामुदायिक संगठनो के प्रति निष्ठा और कर्तव्य के बारे में बचपन से हो स्थापित मूल्य अधिकतर जन समुदाय के सामाजिक एवं राजनोतिक व्यवहार को प्रभावित करते है, और देश को विविधता , क्षेत्रवाद, जातिवाद,

साम्प्रदायिकता आदि को जन्म देते है । ऐसा समाज जो जाति , धर्म, भाषा, संस्कृति के आधार पर जुड़ता है अपने अलग अस्तित्व की चेतना बढ़ती है ।[1]

§2§ आर्थिक :

किसी भी क्षेत्र अथवा समुदाय के लोगों में व्यवसाय तथा आज के आधार पर पूर्ण समानता नही पाई जाती फिर भी ऐसे वर्ग व क्षेत्र है जिनसे अनेक तत्वों के आधार पर कम से कम लक्ष्यों में समानता और हितों के आधार पर एकरूपता पाई जाती है जो उनमें आपसी सहयोग और भाई चारे को सुदृढ़ करती है । वास्तव में भारत में क्षेत्रवाद को बढ़ावा देने में आर्थिक और क्षेत्रीय आधार पर विकास विषमताओं और असंतुलन का विशेष योगदान है स्वतंत्रता के बाद विकास को धीमी गति तथा विकास केलिए अपनाई गई नीति से उत्पन्न विरोधाभासो नेक्षेत्रीय आधार पर हितों की समानता को बने रहने में सहायता प्रदान की है ।[2]

भारत के कुछ राज्यो के कुछ क्षेत्रो में अधिक आर्थिक विकास हुआ और आर्थिक विकास के क्षेत्र में कुछ क्षेत्र पिछड़ गए । इससे इन क्षेत्रो में असंतोष फैलने लगा और क्षेत्रवाद की भावना फैलने लगी ।[3]

1- कौशिक सुशीला -भारतीय शासन एवं राजनीति पृ0

2- फिर वही,

रजनी कोठारी ने कहा है कि " आर्थिक स्रोत कम है और माँगो में निरन्तर वृद्धि हो रही है माँग और उत्पादन में अन्तर का प्रभाव यह है कि व्यक्ति समुदाय, वर्ग और क्षेत्र सभी स्तरो पर प्रतिस्पर्धा होती है ।[1]

ऐतिहासिक :

राज्य पुनर्गठन के बाद कई रियासतों को राज्यो में मिला लिया गया था । आज भी इन रियासतों के लोग महसूस करते रहे है कि यदि उनकी रियासत का पृथक राज्य होता है तो वे अधिक लाभ की स्थिति में होते । भारत का इतिहास सामान्य न होकर क्षेत्रो के आधार पर भिन्न है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, लोक परंपराओं, सामाजिक मिथको के आधार पर क्षेत्रवाद को बढ़ावा मिलता है । इसका सबसे अच्छा उदाहरण है तमिलनाडु में द्रविड कड़गम एवं द्रविड़ मुनेत्र कड़गम के विकास की हानी है । इसी प्रकार महाराष्ट्र और आन्ध्रप्रदेश में राज्य, गठन से पहले से चले आ रहे क्षेत्रीय अस्तित्व के कारण इस आधार पर बँटवारे की प्रक्रिया काम कर रही है । [2]

राजनैतिक कारण -

राजनैतिक कारणो से है। राजनीतिज्ञ यह सोचते हैं कि पृथक राज्य बनजाने से उनकी महत्वाकांक्षाये , आसानी से पूरी हो जाएगी जैसे असम गण परिषद, अकाली दल, गोरखा बिलरेशन फ्रंट (जिनकी चर्चा इसी अध्याय में आगे की गईहै) इत्यादि ।

1- नरायण इकबाल आफ सोट्स पृ0 190

भारतीय राजनीति मे क्षेत्रवाद के बारे में चर्चा करते हुए प्रो0 रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक " भारत में राजनीति" में लिखा है[1] कि §1§ देश के सामने एकखतरा राज्यो के संघ से अलग हो जाने का था । §2§ कुछ लोगों ने आशंका प्रकट की थी कि प्रान्तीयता की भावना या प्रदेश केलिए अधिक अधिकार या स्वायत्ता की मांग बढ़ती गयी तो इससे या तो देश अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यो में बँट जाएगा या वहाँ तानाशाही कायम हो जाएगी §3§ पृथकता की भावना उससे ज्यादा खतरनाक है, जहा ऐसी कार्यित्तर जातियाँ है जो भारतीय संस्कृति की धारा में पूरी तरह नही मिल पाई है जैसे उत्तर-पूर्व की आदिम जातियाँ §4§ कुछ क्षेत्रो में अभी भी असंतोष है जैसे उत्तर-पूर्व में मीजो -जाँति बिहार मे छोटा नागपुर §5§ राज्यों के भीतर विशिष्ट क्षेत्रो के अलगाव के आन्दोलन उठ रहे है । दबे हुए वर्गों, समूहों के राजनैतिक क्षेत्र में आने से अधिकार के लिए उनकी आकांक्षा से नई समस्यायें खड़ी हो रही है ।[2]

भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद का विश्लेषण §1967-1989§ निम्न लिखित आधारो पर किया जा सकता है ।

§1§ <u>क्षेत्रवाद और पृथक राज्यो की माँग :</u>

क्षेत्रवाद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष पृथक राज्यो की माँग है। आर्थिक पिछड़ापन, जाति, भाषा, धर्म को लेकर विभिन्न क्षेत्रो द्वारा पृथक राज्य की माँग समय -समय पर उठाई गई तथा क्षेत्रीय आन्दोलन की शुरूआत की गई । पृथक राज्यों की माँग के पक्ष में

1- रजनी कोठारी - भारत में राजनीति पृ0 330

2- फिर वही,

पक्ष में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य संघीय इकाईयों द्वारा पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त करने की मांग है।

भारत के विभिन्न आधार पर पृथक राज्य की मांग की जाती रही है। 1960 के दशक में आन्ध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र को पृथक राज्य बनाने की मांग की गई। तेलगाना के लोगों का कहना था कि उनके क्षेत्र का समुचित विकास नहीं हो रहा है। जनवरी 1969 से पृथक राज्य केलिए आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। इसका नेतृत्व डॉ० चेन्ना रेड्डी एवं तेलंगाना प्रजा समिति जैसे संगठन ने किया।

पृथक तेलंगाना की मांग फिर जोर पकड़ने लगी है पृथक तेलंगाना की मांग करने वालों को डॉ० चेन्नो रेड्डी का परदे केपीछे से समर्थन प्राप्त है। 8 जुलाई 1985 को तेलगाना के प्रबल समर्थक पूर्व पार्षद पद्मनाभन ने ध्वज फहराकर आन्दोलन की शुरुआत की।

पृथक राज्य की मांग के कारण ही सितम्बर 1969 में असम पुनर्गठन की एक योजना घोषित की गई। इस योजना मे राज्य के पहाड़ी क्षेत्रो केलिए पर्याप्त स्वायत्त शासन की व्यवस्था थी जिससे पहाड़ी लोगों की आकांक्षाये पूरी हो और विकास सम्बन्धी क्रियाकलाप बढ़ सके। असम पुनर्गठन (मेघालय) बिल दिसम्बर 1968 में पारित होकर कानून बन गया, अंततः 1969 में मेघालय को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया।[1]

1- कोठारी रजनी- नेशनल यूनिटी इन डैंजर- केस फार, स्मालर यूनिट्स -टाइम्स आफ इंडिया 1968

मणिपुर तथा त्रिपुरा के लोग भी अधिक स्वायत्तता की मांग कर रहे थे। सरकार ने उनकी मांगो पर सहानुभूति पूर्वक विचार कर, असम के मिजो जिले की जनता के लिए पृथक प्रशासनिक इकाई की मांग पर विचार किया। प्रदेश के विकास तथा सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए 1972 में एक अधिनियम पारित कर त्रिपुरा एवं मणिपुर को पूर्ण राज्य का दर्जा दे दिया।[1]

असम के दरांग जिले के उदलगुडी उपखंड से लेकर ब्रह्मपुत्र के उत्तरी तटीय श्रीरामपुर से सदिया तक के क्षेत्र को बोडोलैंड नामक पृथक केन्द्र शासित क्षेत्र बनाने के मांग वैसे तो इसी सदी के प्रारम्भ से ही की जाती रही है।[2] लेकिन 1972 में बोडो साहित्य सभा द्वारा बोडो के भाषाई अधिकारी के रक्षा हेतु सत्याग्रह के कारण इस आन्दोलन ने नया मोड़ लिया। 1986 से बोडोलैंड की मांग को लेकर हमेशा आन्दोलन होते रहे हैं। 1987, 2 मार्च से अखिल बोडो छात्र संघ द्वारा विधिवत आन्दोलन की शुरूआत हुई जिसमें असम के मुख्यमंत्री को इस संगठन द्वारा 92 सूत्रीय मांग पत्र दिया गया, 16 अगस्त 1987 से 1001 घंटे के बंद की घोषणा की गई। अंततः 8 अप्रैल 1993 को राज्य विधान सभा द्वारा बोडो लैंड स्वायत्त परिषद को मंजूरी मिली, 9 मई 1993 को राष्ट्रपति द्वारा बोडो लैंड स्वायत्त परिषद विधेयक को मंजूरी दे दी गई।[3]

1- फिर वही,

2- नवभारत टाइम्स, 9अप्रैल 1993

3- टाइम्स ऑफ इंडिया, 17 अगस्त 1987 पृ0 ।

पृथक झारखंड राज्य की मांग को लेकर बिहार के छोटानागपुर इलाके में झारखंड आन्दोलन वर्षों से होता रहा है। तेजी से बढ़ते औद्योगीकरण तथा बाहर से आकर बसने वालो की बड़ी संख्या मे इस इलाके के आदिवासियों को दयनीय स्थिति में पहुँचा दिया और उन्हे अपनी मातृभूमि से अलग करने का कुचक्र चलाया । छोटा नागपुर के खनिज पदार्थों से तथा वन संपदा से वंचित होने के बाद जब आदि-वासियों के सामने रोटी के लाले पड़ने लगे, जब कि भारत की कुल खनिज संपदा का 2/3 भाग इसी क्षेत्र से प्राप्त होता रहा है तब इस क्षेत्र के आदिवासी 1978 में संथाली नेता सीबू सोरेन के नेतृत्त्व में आन्दोलन प्रारम्भ कर, पृथक झारखंड राज्य की मांग करने लगे ।

1986 अक्टूबर में आन्दोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया, तथा जमशेदपुर में 23 अक्टूबर को हुए सम्मेलन में । वर्ष के अन्दर पृथक राज्य ले लेने की घोषणा की गई । इसके पश्चात् पृथक राज्य की मांग को लेकर आन्दोलन दिन-प्रतिदिन उग्र रहा जिसमें बिहार में आवागमन तक ठप कर दिया गया, अंतत: केन्द्र राज्य एवं झारखंड मुक्तिमोर्चा के बीच झारखंड स्वायत्त क्षेत्र परिषद के गठन पर सामयिक समझौता हो गया । प्रारूप के अनुसार पाँच वर्षों के लिए एक झारखंड सामान्य परिषद का गठन किया जाएगा । सामान्य परिषद के सदस्यों में एक झारखंड कार्यकारिणी समिति गठित की जाएगी, जो किमंत्रिमंडल की तरह कार्य करेगी ।[1]

1- टाइम्स ऑफ इंडिया, 25 अक्टूबर 1986 पे0 ।

पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग जिले में गोरखालैंड नाम के पृथक राज्य की मांग वर्षों से होती रही थी । अलग राज्य की मांग भारत में रह रहे 70%लोग गरीब , पिछड़े , अशिक्षित नेपालियों के जीवन स्तर सुधारने के लिए की जाती थी । लेकिन गोरखा मुक्ति मोर्चा जिसके अध्यक्ष सुभाष घीसिंग है " की अध्यक्षता में 1986 में आन्दोलन ने उग्र रूप लिया और 1987 में ये आन्दोलन सरकार के सामने मुख्य चुनौती था । घीसिंग ने ये घोषणा की कि गोरखालैंड किसी कीमत पर लेकर रहेंगे अंततः केन्द्र, पश्चिम बंगाल सरकार एव सुभाष घीसिंग के बीच त्रिपक्षीय वार्ता में गोरखा स्वायत्त परिषद के गठन पर समझौता हुआ ।

उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों, कुमायूँ एवं टेहरी गढ़वाल ने भी पृथक राज्य की आकांक्षा प्रस्तुत की है । पृथक उत्तराखंड राज्य की माँग का आधार आर्थिक पिछड़ा पन है। यह मांग हाल के वर्षों में उठायी जाती रही है कि उत्तर प्रदेश के आठ पहाड़ी जिलों को मिलाकर पृथक उत्तरखंड गठित किया जाय, जिससे कि इन क्षेत्रो का आर्थिक विकास हो सके ।

क्षेत्रवाद बनाम अन्तर्राज्यीय झगड़े :

क्षेत्रवाद का एक महत्वपूर्ण पक्ष विभिन्न राज्यों के आपसी झगड़े हैं । राज्यों के बीच सीमा विवादों एवं नदी पानी विवादों को लेकर राज्यो में उग्र मतभेद एवं तनाव बढ़े हैं । विशेषतः पिछले दो दशकों में नदी जल बँटवारे को लेकर राज्यो के बीच तनाव काफी रहा है। राष्ट्रीय वितरण के स्रोतों के वितरण पर राज्यो के

सोन नदी जल-विवाद -

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और नदी जली बँटवारे को लेकर विवाद वर्षों पुराना है। इन तीनों राज्यों के बीच 1973 में एक समझौता हुआ था जिसके अनुसार मध्य प्रदेश में बाण सागर बाँध परियोजना के निर्माण में मध्य प्रदेश को आधी जिम्मेदारी है, शेष आधा बिहार एवं उत्तर प्रदेश को खर्च का वहन करना है उनके बीच जल वितरण भी उसी अनुपात में होगा इधर कुछ वर्षों से उत्तर प्रदेश बिहार ने अपने बड़े-चढ़े दावे पेश किए हैं। [1]

कृष्णा नदी जल विवाद :

महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक राज्यों के बीच कृष्णा नदी जल विवाद गत 1969 से चला आ रहा है। गत 1974 में न्यायाधिकरण ने इसका समाधान प्रस्तुत किया जिसके अन्तर्गत नदी के 75 प्रतिशत जल का वितरण किया गया कर्नाटक और महाराष्ट्र ने अपने अंश को बढ़ाने की मांग की है। जो आंध्र प्रदेश को मंजूर नहीं है। [2]

तेलगु -गंगा परियोजना :

इस परियोजना का लक्ष्य मद्रास को पेयजल प्रदान करना है। इस काम के लिए आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र और कर्नाटक से 15-15 अरब घन फुट पानी मद्रास को मिलना है। तमिलनाडु और आन्ध्र

1- कौशिक सुशीला - भारतीय शासन एवं राजनीति।

2- फिर वही,

प्रदेश के बीच जून 1985 में संयुक्त समझौते के अनुसार तमिलनाडु-आंध्र प्रदेश को 60 करोड़ रू0 देने के लिए बाध्य था परन्तु अभी तक उसने केवल 47 करोड़ रू0 का ही भुगतान किया है। उसे 92-93 से पानी मिलना था परन्तु अभी और कई वर्षों तक भुगतान में विलम्ब के कारण पानी मिलना संभव नहीं होगा। जिससे झगड़ा स्वाभाविक है।

कावेरी-विवाद -

भारत का सबसे बड़ा नदी जल बँटवारे का झगड़ा कावेरी नदी के पानी को लेकर है। यह झगड़ा इस नदी से पहले से चला आ रहा है यह झगड़ा कर्नाटक और तमिलनाड़ु के बीच नदी जल के बँटवारे को लेकर है। जिसको लेकर कई बार आपसी समझौते हुए फिर दोनों राज्यों के अड़ियल रवैये के कारण समझौते सफल नहीं होते हैं। 1976 में तमिलनाडु में राष्ट्रपति शासन के दौरान वे एक सहमति पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए राजी हो गए थे, लेकिन बाद के करुणानिधि की लोकप्रिय सरकार ने हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया।[1]

जून 1990 मे केन्द्र सरकार ने इसके सर्वमान्य हल के लिए अन्तर्राज्यीय जल विवाद अधिनियम 1956 के तहत एक ट्रिब्यूनल की स्थापना कर दी।

न्यायमूर्ति चिंतातोश मुखर्जी की अध्यक्षता में गठित ट्रिब्यूनल ने 25 जून 1991 को अपनी रिपोर्ट जारी कर दी जिनको लेकर तमिलनाड़ और कर्नाटक की सरकार आपस में भिड़ी है।[2]

1- फिर वही,

2- टाइम्स ऑफ इंडिया- 26 जून 1993

क्षेत्रवाद और भारतीय संघ से पृथक होने की प्रवृत्ति :

§1§ द्रविड़ मुनेत्र कड़गम की मांग :

क्षेत्रवाद के आन्दोलन के प्रबल बनाने में तमिलनाडु के द्रविड़ मुनेत्र कड़गम दल की भूमिका अहम रही है। जून 1960 में द्रमुक ने मद्रास राज्य भारतीय संघ से विलग करने की इच्छा प्रकट की इस प्रकार की विघटनकारी मांगो के फलस्वरूप अक्टूबर 1963 में संविधान का 16वाँ संशोधन अधिनियम पारित किया गया। इसमें यह व्यवस्था है कि भारत की अखंडता के विरूद्ध कोई भी व्यक्ति कार्य नही कर सकेगा। इसके फलस्वरूप द्रमुक ने भारतीय संघ से अलग होने की मांग छोड़ दी और भारतीय संघ में स्वायत्त राज्य" की मांग प्रस्तुत की।[1] सन् 1970 में द्रमुक के नेतृत्व में राज्य स्वयत्ता सम्मेलन आयोजित किया गया और राज्य स्वयतत्ता की मांग की गई। राज्य के तत्कालीन मुख्य मंत्री करूणानिधि ने चुनौती दी कि यदि उनकी मांग स्वीकार नही की जाती तो वे जन आन्दोलन का सहारा लेगें। एक बार तो उन्होंने पृथक ध्वज की मांग की क्षेत्रीय दल होने के कारण द्रमुक ने सदैव क्षेत्रीय भावना को भड़काया है। करूणानिधि ने तो यहाँ तक कह डाला कि राज्य नौकरियों में 80% स्थान स्थानीय लोगों को दिए जायेगें।[2]

1- राय रामाश्रय एवं दास चंडी- कांटेक्सर ऑफ इलेक्टरोल चेंज हिन्दू वीकली-जुलाई 22, 1968

2- फिर वहीं,

(2) अकाली दल की मांग :

मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में पंजाब के सिक्ख सम्प्रदाय ने स्वाधीनता के पूर्व खालिस्तान की मांग की थी । स्वतंत्रता के बाद मास्टर तारा सिंह ने पृथक सिक्ख राज्य की मांग की । सन् 1950 से 1969 के बीच सिक्खों ने हिंसात्मक आन्दोलन के माध्यम से पंजाबी सूबे की मांग और 1 नवम्बर 1966 को पंजाब का विभाजन हुआ । इससे भी सिक्ख समुदाय संतुष्ट नही हुआ और सिक्खो के लिए सिक्ख राज्य की मांग की । अकाली दल के महासचिव डॉ० जगजीत सिंह ने सिक्ख जनमत को जागृत करने के लिए विभिन्न देशों की यात्रा की अकाली दल के कई नेता में धमकी देने लगे कि भारतीय संघ के अन्तर्गत सिक्ख राज्य को स्वायत्तता नहीं दी गइ तो जन-आन्दोलन का सहारा लेगे ।[1]

सिक्खों के लिए पृथक राज्य खालिस्तान की मांग वर्षों पुरानी है । खालसा पंथ का कहना है कि सिक्खों को धोखा-धड़ी से भारतीय गणतंत्र में शामिल होने के लिए मजबूर किया गया था। पन्थ का ये भी कहना है कि हिन्दु बहुमत ने एकजुट होकर इस बात पर जोर देते हुए कि सिख धर्म हिन्दू धर्म का ही अंग है, सिख धर्म को बर्बाद करने की कोशिश की और उनकी पंजाबी भाषा को एक बोली मात्रघोषित करके और पंजाब को द्विभाषी राज्य बनाकर उनकी भाषा को नीचा दिखाने की कोशिश की ।

खालिस्तान की यह मांग भारतीय सरकार के लिए (खासतौर से 1980-1985 की अवधि में) एक चिन्ता का विषय

1- राजस्थान पत्रिका उदयपुर 12 दिसम्बर 1982 पृ० 4

बनकर उभरी है । पहले इसका समर्थन कुछ मुट्ठी भर उग्र तत्व करते करते थे, लेकिन अब प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसके समर्थन में राजनीतिक दल तो आ ही गए हैं सिखों की वे संस्थायें भी अपने मंच का उपयोग इस प्रकार की गतिविधियों के लिए करने लगी जो केवल गुरूद्वारों और शिक्षा संस्थाओं के प्रबंध से ताल्लुक रखती थीं ।

17 अक्टूबर 1973 को अकाली दल की कार्य समिति ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसे आगे चलकर आनंदपुर साहिब-प्रस्ताव कहा गया[1] में पृथक सिख राज्य की मांग की गई । इसके बाद शिरोमणि गुरूद्वारा प्रबंधक कमेटी ने जिसका गुरूद्वारा और विशाल सम्पत्ति पर नियंत्रण है, इसी प्रकार का प्रस्ताव सर्व सम्मति से पास किया । इस पर अकाली दल लोंगोवाल गुट का नियंत्रण है। आनन्दपुर साहिब में शैक्षिक सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए मंगासिंह ढिल्लों ने कहा कि खालिस्तान की मांग सिखों के हितों के लिए की जा रही है । आजादी के बाद भारत में सिखों के साथ भेदभाव बरता गया है । इसलिए जरूरी है कि सिखों के लिए पृथक राज्य हो जहाँ उन्हीं का बोलबाला हो ।[2] बाद में पृथक सिख कौम के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ की सह-सदस्यता प्राप्त करने के बारे में अकाली दल के तलवण्डी गुट ने प्रस्ताव पास कर दिया । वे भारत संघ के अंदर पृथक सिख राज्य चाहते हैं ।

पंजाब की राजनीतिक स्थिति यह है कि अकाली सत्ता से हटने के पश्चात {1980} दिन प्रतिदिन अपना प्रभाव खोते जा रहे है

1- राजस्थान पत्रिका उदयपुर 12 दिसम्बर, 1982 पृ0 4

2- दिनमान 25-31 अक्टूबर, 1981 पृ0 47

परन्तु 1985 विधान सभा चुनावो में उनको सरकार बन गई परन्तु बाद में आपसो फूट के कारण उन्हें सरकार से हाथ धोना पड़ा एवं 1987 में राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया । 1989 के पश्चात अकालो दल को अपनो धार्मिक दुविधा के कारण काफी नुकसान उठाना पड़ा है। 1992 में इसो दुविधा के कारण अकालो दल ने विधान सभा चुनावों का बहिष्कार किया एवं पंजाब कांग्रेस(इ) को लोकप्रिय सरकार बनो जो कि खालिस्तान को मांग करने वाले उग्रवादोतत्वो को सबक सिखाने में सफल रहो है ।[1]

अासम में मिजों को मांग :

अासम राज्य के मिजो पहाड़ो जिलो के नेता भारतोय संघ से पृथक होने को लगातार मांग करते रहे है । वे एक स्वाधोन मिजो राज्य को स्थापना चाहते हैं । इसो ध्येय को पूर्ति के लिए मिजो राष्ट्रोय फ्रंट को स्थापना को गयो एवं मिजो लोगों ने सशस्त्र आन्दोलन का मार्ग अपनाया । सन् 1971 में मिजो नेता मिजो राज्य को मांग के प्रश्न पर जनमत संग्रह कराने को मांग करने लगे ।[2] मिजो लोगों को राजनोतिक आकांक्षाओं को देखते हुए केन्द्रोय सरकार ने 27 वें संविधान संशोधन अधिनियम 1971 मिजोरम संघोय राज्य क्षेत्र को स्थापना को एवं 53वे संविधान संशोधन अधिनियम 1986 के तहत मिजोरम को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया ।[2]

1- टाइम्स ऑफ इंडिया- 6 नवम्बर 1992

2- भारत के संविधान से ।

काश्मीर समस्या अलगाववाद का नासूर :

भारत का धुर उत्तरवर्ती सीमा प्रान्त जिसके पश्चिम में पाकिस्तान सीमा प्रदेश, उत्तर पश्चिम में अफगानिस्तान उत्तर-पूर्व में चीन का सिनक्यांग प्रान्त तथा पूर्व में तिब्बत स्थित है । 1947 में भारत का विभाजन होने पर कश्मीर भारत एवं पाकिस्तान दोनों से अलग रहना चाहता था 20 अक्टूबर 1947 को उत्तर-पश्चिमी सीमांचलों के कबीले वालो ने नव स्थापित पाकिस्तान सरकार की साजिश एवं सहायता से इस पर आक्रमण कर दिया फलस्वरूप महाराजा हरिसिंह ने भारत से सहायता की मांग की। भारत ने वायुयानो द्वारा अपनी सेनाएं भेजकर श्रीनगर को आक्रमणकारियों के हाथ से बचा लिया इसके पश्चात 20 अक्टूबर 1947 में महाराजा हरिसिंह के हस्ताक्षर के बाद कश्मीर का भारत में विलय हो गया ।[1]

कश्मीर मे अलगाववाद का जन्म 1985 में शुरू हुआ जब फारूख अब्दुला मुख्य मंत्री थे । और तब से अब तक काश्मीर को भारत से अलग करने के लिए विदेशी ताकतों की शह पर सशास्त्र आन्दोलन जारी है। पिछले कुछ वर्षों से काश्मीर की आर्थिक हालत अलगाववादी आन्दोलन के कारण क्षीण हो गई है, पर्यटकों के न आने से 1989 से अब तक 600 करोड़ रूपये का नुकसान हो चुका है । 1991 तक काश्मीर घाटी से लगभग 40 हजार परिवार अपने घर -बार छोड़कर भाग चुके है एवं जम्मू एवं दिल्ली में विस्थापित का जीवन गुजार रहे हैं । भारत के लिए ये समस्या नासूर साबित हुई है ।[2]

1- हिन्दुस्तान -पटना, 16 सितम्बर 1992

2- फिर वही,

क्षेत्रवाद एवं क्षेत्रीय राजनीति दलों का उदय :

स्वतंत्र भारत की राजनीति के आरम्भिक वर्षों से ही क्षेत्रीय दल सामाजिक तथा भावुकतापूर्ण सामुदायिक आधार पर काफी शक्तिशाली हो रहे है, इनमें से कुछ दल जैसे अकाली, द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, नेशनल कांफ्रेंस, तेलगुदेशम, आसाम गण परिषद तथा नागालैंड तथा मणिपुर में आदिवासियों के संगठन काफी संगठित और शक्तिशाली हैं तथा राज्य विशेष की राजनीति को एक विशिष्ट रूप देने में सहायक है . कुछ अन्य दल समस्या विशेष को लेकर बनते आए है। विशेष रूप से 1967 से भारत में विकास की प्रक्रिया के परिणाम सामने, आने जन साधारण में असंतोष बढ़ने तथा राजनीति में अनेक नए वर्गों के सम्मिलित होने से इन वर्गों का उदय हुआ है जिनसे क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता रहा है ।

भारत में प्रमुख रूप से निम्न प्रकार के क्षेत्रीय दल है । पहले प्रकार के वे क्षेत्रीय दल हैं जो वास्तव में जाति, धर्म क्षेत्र अथवा सामुदायिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और उन पर आधारित है । इसके प्रमुख उदाहरण है, तमिलनाड़ु में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम पंजाब में अकाली दल, जम्मू काश्मीर में नेशनल कांफ्रेंस, आन्ध्र प्रदेश में तेलगुदेशम ,आसाम में असम गण परिषद, बिहार में झारखण्ड पार्टी, महाराष्ट्र में शिवसेना उत्तर-पूर्व में कुछ आदिवासी संगठन है ।[1]

द्रमुक और अन्ना द्रमुक :

आधुनिक भारत के इतिहास में स्वतंत्रता प्राप्ति से चालीस वर्ष पूर्व और उसके चालीस वर्ष बाद सबसे लम्बी तथा गहरी जड़ का

1- खान रशी उद्दीन - भारत में लोकतंत्र पृ0 126

का क्षेत्रीय आन्दोलन द्रविड़ियन आन्दोलन रहा है जो अपनी स्वायत्तता और नई लोकतांत्रिक पहचान के लिए सदैव किसी न किसी रूप में सक्रिय रहा है । इन आठ दशकों में इसने कई रूप ग्रहण किए तथा फूट और विघटन के कई चरणों से गुजरा । इसे कभी आम सहमति या जनमत के निर्माण तो कभी संविद राजनीतिक प्रक्रिया से गुजरना पड़ा । कभी उसके उग्रवादी समर्थकों ने भारत से पृथक एक स्वतंत्र राज्य की मांग उठाई तो कभी उदारवादी समर्थकों ने भारतीय संघ के अन्तर्गत ही अत्यधिक स्वायत्तता की मांग की । इसका प्रभाव कभी अधिक था कभी अत्यन्त शिथिल एवं ह्रास की स्थिति में था यह आन्दोलन ज्वार-भाटा की तरह प्रभावी रहा है किन्तु इसका उपद्रवी जल तमिलीयन चेतना को सदा प्रभावित करता रहा है । इससे जातीय संदर्भो में वर्गीय चेतना का विकास हुआ जिसके कारण शिक्षित अच्छे नौकरी पेशे तथा वैभव विलास वाले ब्राह्मणों और सीमा तक शोषित तथा गैर ब्राह्मण जातियों के बीच बैर-भाव को बढ़ावा मिला। इस पृष्ठ भूमि में गैर ब्राह्मण आन्दोलन का जन्म हुआ । इसका आह्वान सन् 1916 के गैर ब्राम्हण घोषणा पत्र में किया गया ।[1]

सन् 1967 के आम चुनाव इसने भाषा और अपनी स्वायत्तता के मुद्दे (हिन्दी को जबरन थोपने तथा विरोध तथा योजना संसाधनों के संकुचित आवंटन संबंधी मुद्दे) पर लड़ा, जिसमें इसे बहुत अधिक सफलता मिली तथा उस समय यह मद्रास राज्य में सत्तारूढ़ दल बन गया । लोकसभा में भी यह तीसरे बड़े दल के रूप में उभर कर सामने आया । इस चुनाव द्र. मु. क. ने कांग्रेस के विरोध में सभी विपक्षी दलों मुस्लिम लीग, स्वतंत्रपार्टी, पी. एस. पी. साम्यवादियों के साथ समझौता किया।[2]

1- फिर वही,

§1971§ पांचवे आम चुनाव में यह पुन: सत्ता में आ गई और मंत्रिपरिषद के गठन में दल के विभिन्न घटकों को उचित स्थान देने का यथाशक्ति प्रयत्न किया गया फिर भी दल में उभरते हुए आंतरिक मतभेद अधिक दिन तक न दबे रह सके । 1972 में दल के कोषाध्यक्ष एम. जी. रामचन्द्रन § सिने कलाकार§ को निलम्बित कर दिया गया । फलस्वरूप 1972 में दल का विघटन कर दिया गया, 1972 में ही एक नये दल अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम की स्थापना की गई, जिसे बाद में ए. आई. ए. डी. एम. के. कहा गया, 1977 में आल इंडिया अन्ना डी. एम. के. ने अपने सहयोगी दलों कांग्रेस और भा. क. पा. के चुनावी गठजोड़े ने लोकसभा की 20 सीटों में 18 सीटों पर विजय प्राप्त की, उसी वर्ष विधान सभा चुनाव में पूर्ण बहुमत प्राप्त करके सत्तारूढ़ दल बन गया । 1984 मे अन्ना द्रमुक ने कांग्रेस के साथ समझौता कर संसद में 12 तथा 1985 के विधान सभा चुनाव में 234 सीटों में 133 स्थान प्राप्त कर सरकार बना ली । 1988 में एम. जी. रामचंद्रन की मृत्यु के पश्चात् यह दल बिखर गया । जनवरी 1989 के चुनाव में 15 वर्षों के बाद डी. एम. के सत्ता में आया । कुछ समान मसलों पर इन दोनों के विचार अलग-अलग है परन्तु दोनों ही भारतीय संघीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में एक विशिष्ट स्वायत्तता बनाने के लिए प्रतिबद्ध दिखाई देते हैं ।[1]

तेलगू देशम पार्टी -

आन्ध्र विधान सभा में लगभग तीस वर्षों के कार्यकाल के दौरान सात आम चुनावों में सदैव कांग्रेस दल प्रभावी रहा ।

1- फिर वही, पृ0 128-129

यद्यपि सन् 1967 में सर्वत्र कांग्रेस का भाग्य खतरे में पड़ गया था, फिर भी कांग्रेस इसका गढ़ था, किन्तु 1983 में जब एन. टी. रामाराव की नेतृत्व में नवोदित तेलगु देशम पार्टी बनी तो आंध्र प्रदेश में कांग्रेस का तख्ता पलट गया। तेलगु देशम पार्टी ने आंतरिक घटकवाद और विघटन से पीड़ित कांग्रेस को चुनाव में बुरी तरह पराजित किया।[1]

तेलगु देशम केवल विधान सभा में बहुमत हासिल करने में कामयाब नही रही, बल्कि इसने लोकसभा एवं राज्य सभा में भी अपने सदस्य निर्वाचित करके भेजे। वास्तव में 1984 में यह सबसे बड़े विपक्षी दल के रूप में उभरकर सामने आयी। तेलगु देशम पार्टी नाम से केवल क्षेत्रीयता की बू आती थी इसलिए एन. टी. रामाराव ने एक बार अपने दल की सीमा को व्यापक बनाने के लिए दल का बदलकर भारत देशम कर दिया। तेलगु देशम पार्टी का व्यापक जनाधार है तथा इसका सांगठनिक ढाँचा अत्यन्त सुदृढ़ है। आंध्र अत्यन्त सुदृढ़ है। आंध्र प्रदेश के तीनो उपक्षेत्रों समुद्री किनारे का क्षेत्र, रायलसीमा तथा तेलगाना के गांवो तक इसका गहरा प्रभाव है। तेलगु देशम पार्टी को आसानी से किसी वैचारिक श्रेणी जैसे वाम, दक्षिण या मध्यम मे नही रख सकते। सन् 1989 के चुनाव मे तेलगु देशम पार्टी कांग्रेस से बुरी तरह पराजित हुई और उसने विधान सभा में अपना बहुमत खो दिया।[2]

शिरोमणि अकाली दल :

स्वतंत्रता से पूर्व के राजनीतिक दृश्य में अकाली दल के

1- फिर वही, 129

2- फिर वही, पृ0 129

पूर्ववर्ती अस्तित्व को देखा जा सकता है । अकाली दल की स्थापना 1921 में हुई स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पंजाब के दो प्रमुख दलो में कांग्रेस के साथ अकाली दल एक प्रमुख दल बन गया ।

सन् 1967 के विधान सभा चुनाव में अकाली दल कांग्रेस के बाद दूसरे बड़े दल के रूप में उभर कर आया, विधान सभा में किसी भी दल का बहुमत न होने के कारण अकाली दलों गैर कांग्रेसी दलो के साथ संविद सरकार बनायी मास्टर तारा सिंह ने 1967 चुनाव में धार्मिक एवं सांस्कृतिक तत्वो को प्रमुखता दी ।

सन् 1968 में मास्टर तारा सिंह के मृत्यु के पश्चात् सन् 1969 के मध्यावधि चुनाव के दौरान अकालियो ने संत फतेह सिंह के नेतृत्व में अपने समूह का पुनर्गठन किया तथा पहले के सभी सांगठनिक पदाधिकारी निरस्त कर दिए । उस दौरान यह पंजाब में कांग्रेस की अपेक्षा बड़े दल के रूप में अवतरित हुआ । अकाली दल ने जनसंघ के साथ मिलकर संविद सरकार बनायी । सन् 1972 में वहाँ कांग्रेस पुन: सत्ता में आई, तथा 1977 तक कांग्रेस सत्ता में थी । सन् 1975 में अकालियो ने आपात काल के विरोध में आन्दोलन किया। इससे सन् 1977 में जनता पार्टी के गठजोड़ से पुन: सत्ता प्राप्त करने मे सफल हुई । सन् 1980 के चुनाव में अकाली दल के बीच गुटबाजी झगड़े के कारण, ये पार्टी बुरी तरह पराजित हुई अक्टूबर 1973 में आनंदपुर साहिब प्रस्ताव पारित होने के बाद पंजाब की राजनीति में एक मोड़ आया, जिसमे सभी पंजाबी भाषी क्षेत्रो को मिलाकर पंजाबी सूबे के विस्तार की मांग की गईथी इस प्रस्ताव में असीमित क्षेत्रीयता की बू आती थी ।

1- फिर वही, पृ0 130

सन् 1983 में पंजाब की राजनीति में हिंसक मोड़ आया पंजाब के कुछेक वर्गों ने "खालिस्तान " की माँग की आवाज उठाई। राजनीतिक हत्या, आगजनी ,आतंकवाद प्रतिदिन की आम बात हो गई। उग्रवादियों ने स्वर्ण मंदिर और अकाल तख्त अहाते के आस-पास के सभी भवनों पर कब्जा कर लिया। जब समझौते के सभी प्रयास विफल हो गए तो सरकार ने सेना को 5 जून 1984 को आतंकवादियों की किलेबंदी को ध्वस्त करने का आदेश दिया। जिसे आपरेशन ब्लू स्टार कहा गया।[1]

आपरेशन ब्लू स्टार का सबसे बड़ा दुष्परिणाम-श्रीमती गाँधी की 31 अक्टूबर 1984 को हत्या हुई। इसके बाद प्रधानमंत्री राजीव गाँधी की संत लोगोंवाल के साथ समझौता हुआ फिर भी शान्ति बहाल न हो सकी/समझौता के 1 महीने के अन्दर लोगोंवाल की हत्या कर दी गई समझौते के तहत पंजाब में चुनाव कराना था चुनाव में अकाली दल ने 117 सीटों में से 75 सीटें जीतकर सरकार बनाई। बरनाला राज्य के मुख्य मंत्री बनाये गये किन्तु आतंकवाद पर काबू न पा सकने के कारण मई 1987 में बरनाला की सरकार बरखास्त कर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। तब से लेकर 1992 तक आतंकवाद का दौर पंजाब में चलता रहा। 1992 में काँग्रेस की सरकार के मुख्य मंत्री बेअंत सिंह ने आतंकवाद पर काबू पा लिया है। पंजाब के चुनावी आंकड़े से ये दिखता है कि अकाली दल को 1977 के जनता लहर 1985 के अलावा कभी भी 30% से अधिक मत नहीं मिले। इसका कारण दल की केवल एक ही धार्मिक संप्रदाय से अपील और आर्थिक कार्यक्रम में वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व है। इस कारण पंजाब में रहने वाले हिन्दू, हरिजन और एक सीमा तक शहरी सिख अकाली दल को समर्थन नहीं देते। इसका दूसरा पहलू

यह है कि अकाली दल अपनी संकीर्णता के बावजूद अकेले विधान पालिका में बहुमत नहीं प्राप्त कर सकता ।[1]

नेशनल कांफ्रेंस :

पराक्रमी स्वतंत्रा सेनानी शेख मुहम्मद अब्दुल्ला के प्रयास से सन् 1938 में जम्मू-काश्मीर में नेशनल कांफ्रेंस की स्थापना हुई । स्वतंत्रता आन्दोलन में शेख अब्दुल्ला के साहस और बहादुरी के कारण उन्हें "शेरे कश्मीर" के नाम से जाना जाता है । बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में नेशनल कांफ्रेंस की गौरवशाली शुरूवात हुई । 1932 में विकसित होकर अखिल जम्मू और कश्मीर कांफ्रेंस के रूप में अवतरित हुआ । सन् 1948 में कश्मीर का भारत में विलय हुआ । शेख अब्दुल्ला के " नया कश्मीर " सुधार कार्यक्रम के अन्तर्गत वास्तविक भूमि सुधार कार्यक्रम शामिल था, जो कि सामाजिक आर्थिक परिवर्तन के लिए एक क्रांतिकारी कदम था ।नेशनल कांफ्रेंस में आन्तरिक विरोध के कारण शेख अब्दुल्ला को नजर बंद होना पड़ा । 1968 में उन्हे बिना शर्त पुन: रिहा किया गया । दीर्घकालीन वार्ता के बाद एक समझौता हुआ । जिसे मार्च 1975 में संसद ने अनुमोदित किया । इससे नेशनल कांफ्रेंस में नया जीवन तथा स्फूर्ति पैदा हुई । सन् 1977 के चुनाव में नेशनल कांफ्रेंस 48 प्रतिशत वोट प्राप्त करके पुन: सत्ता में आ गई । नेशनल कांफ्रेंस के फारूख अब्दुला कांग्रेस आई के साथ जबरदस्त टक्कर के बाद 1983 में मुख्यमंत्री बने । नेशनल कांफ्रेंस को 46 स्थान प्राप्त 1984 लोकसभा चुनाव में 3 स्थान प्राप्त किए ।[2]

1- ब्रास आर पाल - रीजन लैग्वेज एंड पालिटिक्स इन नार्थ इंडिया न्यू दिल्ली पृ0 373-75

2- फिर वही,

असम गण परिषद :

असम गण परिषद एक नये प्रकार का दल है, जिसका उदय असम के छात्रो और नौजवानो को गतिविधियों और सक्रियता के कारण हुआ । 1980 के पूर्वार्द्ध में असम के छात्रो द्वारा आल असम स्टूडेंटान यूनियन के तत्वाधान में प्रारम्भ किए गए आन्दोलन के फलस्वरूप यह दल विकसित हुआ ।[1]

यह आन्दोलन असम में नागरिकता के प्रश्न पर केन्द्र सरकार को नोतियों के विरोध में था । नागरिकता को यह समस्या पश्चिम बंगाल और बंगलादेश से आए शरणार्थियों के कारण और जटिल हो गयो थो । इस दल ने क्षेत्रोय स्वायत्तता तथा समुच्चय विकास पर जोर दिया। असम गण परिषद ने अपना जोर तब दिखाया जब इसने लोकसभा के चुनाव §1985§ में भाग लिया और 33.53 प्रतिशत मत प्राप्त करते हुए लोकसभा में आसाम के लिए निर्धारित 14 स्थानो में से 7 स्थान जोत लिए । 1985 में हुए राज्य विधान सभा चुनावों में इसे 121 सदस्य संख्या वाले सदन में 67 स्थान मिले और 3 अन्य निर्दलोय उम्मोदवारो के समर्थन का आश्वासन मिला । मुख्यत: यह मध्यम मार्गो व सुधारवादो दल है जिसने राज्य के अनेक भागों में कांग्रेस को हटाकर सत्ता प्राप्त को । वर्ष 1989 के केन्द्रोय चुनाव के बाद नेशानल फ्रंट को सरकार बनने में इसको विशिष्ट भूमिका रहो ।[2]

1- खान रशो उद्दोन -भारत मे लोकतंत्र पृ0 135

2- फिर वहो,

एक या दूसरे क्षेत्र में अपनी प्रभावी भूमिका निभाने वाले पुराने दलों में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का उल्लेख करना आवश्यक है। यह केवल नाम से ही स्वतन्त्रता पूर्व में मुस्लिम लीग की उत्तराधिकारी माना जाती है इसने मालाबार जैसे बहुल इलाके में अपना स्थाई निर्वाचन आधार बना लिया है । यह केरल अनेक संविद सरकारो मे भागीदार रही है । तथा राष्ट्रीय स्तर पर इसने कांग्रेस का साथ दिया है। अपने कार्यक्रम और लक्ष्य में यह समुदाय अभिमुखी दल है । जनवरी के चुनावों में लोकसभा की 3 सीटे जीती ।[2]

वामपंथी दलों में रिव्यूलूशन सोशलिस्ट पार्टी बहुत छोटी है, किन्तु केरल और पश्चिम बंगाल में इसका स्थाई निर्वाचन समर्थन आधार है । सुभाष चन्द्र बोस की फारवर्ड ब्लाक , पश्चिम बंगालमें वामपंथी गुटी तथा यूनाइटेड फ्रंट का एक प्रमुख घटक बना रहा है । इसी प्रकार महाराष्ट्र में पेजट्स पार्टी और वर्क्स पार्टी भी काफी गंभीरता के साथ क्रान्तिकारी और प्रगतिशील मसलों का समर्थन करती रही है, जो महाराष्ट्र की राजनीति के नियमित प्रभाव के साथ लोकप्रिय हो गयी है । राष्ट्रीय चेतना के विकास में गोवा और दमन द्वीप की महाराष्ट्र गोमांतक पार्टी की अग्रणी भूमिका बहुत ही लोकप्रिय है। इसने मंत्रिमंडल के निर्माण में एक संतुलित भूमिका अदा की है। उड़ीसा में गणतंत्र परिषद का पारंपरिक समर्थन आधार है । इसके प्रमुख समर्थक पिछड़ी जातियाँ और जनजातियाँ है।

भारत के विभिन्न भागों मे अन्य क्षेत्रीय और स्थानीय दल हैजिसमे कुछ को मान्यता प्राप्त है कुछ को नहीं कुछ सांस्कृतिक संगठन

1- फिर वही, पृ0 135

होने का दावा करते हैं । किन्तु बहुदलीय टक्कर मे सत्ता के संतुलन को मोड़ने में ये प्रभावी रूप से सक्षम है और कुछ जातियों के मत भंडार पर पूरा नियंत्रण रखते हैं । वे वैचारिक और राजनीतिक प्रतिबिम्ब की विभिन्न धाराओं से जुड़े होते हैं । दक्षिण पंथी संगठनों के बीच महाराष्ट्र के बम्बई, पुणे , औरंगाबाद में शिवसेना, उत्तर प्रदेश में अखिलभारतीय राम राज्य परिषद हिन्दु महासभा, विश्व हिन्दु परिषद, मुस्लिम मजलिस हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश में) मजजिस-ई-इतिहादुल तथा उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश में बहुजन समाज-वादी पार्टी इत्यादि संगठन या क्षेत्रीय दल है । रिपब्लिकन पार्टी आफ इंडिया, के दो घटक है ये हरिजनो तथा अछूतों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा सत्ता के साथ गठजोड़ में प्राय: मध्य मार्गी और प्रगतिशील भूमिका निभाते हैं । अभी हाल मे चौधरी महेन्द्र सिंह टिकैत का भारतीय किसान यूनियन ,शरद जोशी का खेत कारी संगठन नेता अभिमुख और जाति आधारित जनसंगठन के उदाहरण है । इन दोनो संगठनो ने धनी और मध्यम वर्ग के किसानो की समस्याओं या अपना ध्यान केन्द्रित किया है। ये निश्चित रूप से दबाव समूह की भूमिका अदा करते हैं । बहुदलीय स्थिति में संतुलित भूमिका अदा करने में सक्षम हैं ।[1]

क्षेत्रीय दलो में एक प्रकार के वे क्षेत्रीय दल है जो कि कांग्रेस के असंतुष्ट नेताओं का गुट रहा है जो अधिक अल्पकालिक तथा कांग्रेस के साथ राजनैतिक सौदेबाजी करने के लिए अस्थाई उद्देश्य से बनाए गए थे । इनमे बंगला कांग्रेस, केरल कांग्रेस, उत्कल कांग्रेस, विशाल हरियाणा परिषद तथा तेलगाना प्रजा समिति है।

1- फिर वही, पृ0 136

क्षेत्रीय दलों में एक प्रकार के वे क्षेत्रीय दल है जिनका आधार जनजातीय रहा है । इस प्रकार के दलों के निर्माण में केन्द्र में जनजातीय राजनीतिक पहचान बनाने तथा केन्द्र से अत्यधिक छूट प्राप्त करने का उद्देश्य निहित होता है। इस प्रकार के दल आल पार्टी हिल लीडर्स कांफ्रेंस (ए. जी. एच. एल. सी.) की मांग पर 1971 में मेघालय को राज्य का दर्जा मिला ।[1]

बिहार के पांच जन जातियों का प्रतिनिधित्व करने वाली 'झारखंड पार्टी स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से ही "झारखंड " भारत के अन्दर ही एक अलग राज्य की मांग करती रही है। इसने चुनावों में भाग लिया तथा स्वयं अपने और अपने सहयोगी दलों के समर्थन के आधार का व्यापक विकास किया ।

पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग क्षेत्र में गोरखा लोग धीरे-धीरे सुव्यवस्थित संगठन में परिवर्तित हो गई । इसे पश्चिम बंगाल के अन्दर संविधानिक परिषद की मान्यता प्राप्त हो गई है जिसने गोरखा स्वायत्ता और पहचान के अपने मांग संबंधी समझौते के लिए अलग-प्रशासनिक मंच प्राप्त कर लिया है ।

क्षेत्रवाद एवं केन्द्र राज्य सम्बन्ध -

संविधान के लागू होने के प्रारंभिक वर्षों में केन्द्र एवं राज्यों के बीच सौहार्दपूर्ण एवं सहयोगात्मक संबंध थे । वस्तुत: स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात के प्रारंभिक दशकों की भारतीय राजनीति नेहरू के प्रभावशाली व्यक्तित्व एंव उनके द्वारा दिए गए राष्ट्रीय नेतृत्व से ओत-प्रोत थी

1- बॉल ए. आर.- मार्डन पॉलिटिक्स एंड गवर्नमेंट पृ0 97

जिस कारण केन्द्र एवं राज्यो में तनाव की स्थिति नहो आई एवं केन्द्र क्रमश: शक्तिशाली होता गया फिर भी 1955-56 में राज्यों के पुनर्गठन के दौरान भाषायी एवं सांस्कृतिक स्तर पर क्षेत्रीयता की भावनाएँ उभरी जिनकी परिणिति उन्हीं आधारों पर राज्यों के पुनर्गठन के रूप में हुई ।

1965-71 की अवधि में न केवल केन्द्र में नेतृत्व परिवर्तन हुए बल्कि कई राज्यों में भी गैर-कांग्रेसी सरकारें क्षेत्रीय दलों के नेतृत्व में या संयुक्त दलों के नेतृत्व में आई । केन्द्र में कांग्रेस एवं कई राज्यो में गैर कांग्रेसी सरकारो का होना भी केन्द्र राज्य संबंधों के बीच तनाव का कारण बना । लोकसभा में बहुमत के संदर्भ में केन्द्र सरकार के मजबूत नही होने से, एवं क्षेत्रीय स्तर पर दलों के उदय से केन्द्र की सत्ता में ह्रास इस अवधि में परिलक्षित हुआ । इसी समय के दौरान केन्द्र द्वारा तमिलनाडु को चावल की आपूर्ति के प्रश्न पर अजय मुखर्जी के नेतृत्व में पश्चिम बंगाल में शासन के अन्तर्गत कानून एवं व्यवस्था की स्थिति के प्रश्न पर तथा केरल में इ. एम. एस. नंबूदिपरी-पाद.सरकार द्वारा चीन से सीधे खाद्यान्न मँगाने वाली बात पर केन्द्र एवं राज्यो के बीच तनाव की स्थिति बढ़ी । नंबूदरीपाद ने केन्द्रीय अध्यादेश को श्रमिक विरोधी कहकर उसे मानने से इंकार कर दिया । सन् 1968 के पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग और नक्सल-वादी क्षेत्रों में होने वाले उपद्रवों से चिन्तित होकर केन्द्रीय सरकार ने उपद्रव ग्रस्त क्षेत्रो में हथियार रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिए जिसे राज्य सरकार ने राज्य के मामले में केन्द्र के हस्तक्षेप की संज्ञा दी ।[1]

1971 के चुनावों में कांग्रेस के भारी बहुमत से केन्द में आने एवं अधिकांश राज्यो में कांग्रेस शासन स्थापित होने से केन्द्र को

1- फिर वही,

शक्तियों में विस्तार होना प्रारम्भ हुआ । इसी समय 1971 में तमिलनाडु सरकार ने "राजमन्नार समिति" की स्थापना केन्द्र राज्य संबंधो का अध्ययन कर इससे संबंधित सुझाव देने के लिए की । इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में राज्यो को वास्तविक स्वायत्तता प्रदान करने एवं इसके लिए उन्हें अधिक वित्तीय शक्तियाँ दिए जाने पर जोर दिया । जून 1975 में राष्ट्रीय आपात् स्थिति की घोषणा के पश्चात् केन्द्र की शक्तियों में अत्याधिक वृद्धि हुई । मुख्यमंत्रियों की शक्ति का ह्रास होना प्रारम्भ हुआ । एवं केन्द्र के कठोर नियंत्रण के अन्तर्गत अब्दुल गफूर एवं बहुगुणा जैसे मुख्यमंत्रियों को कार्य करना पड़ा । 42वें संशोधन द्वारा शिक्षा न्यायिक प्रशासन, परिवार नियोजन आदि विषयों को राज्य सूची से बाहर कर दिया गया एवं राज्यो से टेलिविजन, रेडियों आदि से संबंधित कर लगाने का अधिकार छीन लिया गया । कुल मिलाकर यह केन्द्र की शक्तियों में अपार वृद्धि का काल था ।

1977 के चुनावो से केन्द्र में जनता पार्टी सत्ता में आई एवं शक्ति के विकेन्द्रीकरण की एक प्रक्रिया प्रारम्भ हुई । पर अपनी आन्तरिक समस्याओं के कारण जनता पार्टी का शासन अधिक दिनों तक नही चल पाया । 1980 के चुनावों में कांग्रेस के पुनः सत्ता में स्थापित होने एवं श्रीमती इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्री बनने से केन्द्रीकरण की प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ हो गई जो राजीव गाँधी के प्रधानमंत्रित्व काल तक चली ।

1980 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में कई राज्यो में क्षेत्रीय दलों के उदय (जैसे आंध्रप्रदेश में तेलगु देशम, कर्नाटक में जनता पार्टी,

असम में असम गण परिषद, हरियाणा में लोकदल (एवं गैर-कांग्रेसी सरकारों की स्थापना से केन्द्र -राज्य संबंधो के संदर्भ में नए प्रश्न उभरे । इन राज्यों में प्रारम्भ से ही गैर-कांग्रेसी दलों की सभाएं आयोजित करना प्रारम्भ किया जिनमे केन्द्र- राज्य संबंधो पर पुनर्विचार की मांग की गई । आर्थिक साधनो पर केन्द्र के प्रभुत्व एवं राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप की केन्द्र की प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए इन राज्यों ने राज्यों को वास्तविक अर्थों में स्वायत्तता दिए जाने एवं इसके लिए केन्द्र राज्य संबंधो के पुनर्निर्धारण की मांग की ।

इसी पृष्ठभूमि में श्रीमती इंदिरा गांधी ने जस्टिस सरकारिया की अध्यक्षता में केन्द्र राज्य संबंधो के अध्ययन करने तथा उपयुक्त सुझाव देने के लिए एक आयोग का गठन किया ।

सरकारिया आयोग ने अपनी रिपोर्ट 1988 में प्रकाशित की जिसमेंइसने संविधान में अवस्थित मजबूत केन्द्र की अवधारणा को मानते हुए साथ में केन्द्र से राज्यों की ओर शक्ति-विकेन्द्रीकरण का मार्ग भी दिखाया जिससे केन्द्र एवं राज्यों के बीच सदभावपूर्ण एवं मधुर संबंध रहे तथा सहयोगात्मक संघीय व्यवस्था का आदर्श प्राप्त किया जा सके[1] ।

सर्वप्रथम , सरकारिया आयोग का यह सुझाव है कि किसी राज्य में राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व उस राज्य के मुख्यमंत्री की सम्मति ली जाय । राज्यपाल एक ऐसी व्यक्ति को नियुक्त किया जाय जिसकी उस राज्य की स्थानीय राजनीति में कोई भूमिका न रही हो । अपना कार्यकाल समाप्त होने के पश्चात् या पद त्याग

1- सरकारिया आयोग रिपोर्ट 1988 , पृ0 ।

के पश्चात् राज्यपाल पुनः सक्रिय राजनीति में नही कूदें । जहाँ तक राज्यपाल द्वारा राज्य विधानपालिका केबिलों को सुरक्षित करने एवं उसे राष्ट्रपति के पास भेजने का प्रश्न है आयोग का सुझाव है कि इसके लिए एक समय सीमा निर्धारित की जाय तथा बिल को रोके जाने का कारण भी राज्य विधान पालिका को बताया जाय ।

अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन लागू किए जाने के संदर्भ में भी सरकारिया आयोग ने महत्वपूर्ण सुझाव दिए है । यहाँ कहा गया है कि राज्यो में राष्ट्रपति शासन अपरिहार्य स्थितियों में ही लागू किया जाय । साथ ही यह भी सुझाव दिया गया है कि किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन की घोषणा के बाद तब तक उस राज्य की विधान सभा भंग न की जाय जब तक संसद द्वारा इसकी स्वीकृति नही दी जाती है ।

राज्यो में, केन्द्र द्वारा सशस्त्र बल भेजे जाने के संबंध में आयोग का विचार है कि यह अनिवार्य नहीं कि हर परिस्थिति में राज्यो की सम्मति लेकर ही वहाँ सस्त्र बल भेजे जायें पर यह वांछनीय है कि सशस्त्र बल भेजे जाने से पूर्व एवं किसी राज्य में अशांत क्षेत्र की घोषणा से पूर्व राज्यो से उचित रूप से सलाह मशविरा कर लिया जाय[1] ।

अनुच्छेद 256 एवं 257 के अन्तर्गत केन्द्र द्वारा राज्यो को भेजे गए प्रशासनिक निर्देशो की सर्वोच्चता स्वीकार करते हुए आयोग ने यह भी सुझाव दिया है कि अनुच्छेद 258 के अन्तर्गत केन्द्र के कार्यों को राज्यों को हस्तांतरित किए जाने की प्रक्रिया को गति दी जाय । साथ ही आयोग ने संसद द्वारा नियम बनाए जाने का सुझाव दिया है जिससे स्थानीय प्रशासनिक संस्थाओं में नियमित चुनाव हो सके और

1- फिर वही,

वे अपनी उचित भूमिका निभा सके ।

केन्द्र एवं राज्यो के बीच वित्तीय एवं आर्थिक साधनो के वितरण से संबंधित सुझावो के अन्तर्गत आयोग ने करों के वितरण में संशोधन कर विचार रखा है जिससे राज्यों की स्थिति कर विभाजन की वर्तमान व्यवस्था में मजबूत हो । वित्त आयोग के पास विचारार्थ भेजे जाने वाले विषयों के संबंध में केन्द्र एवं राज्यों के बीच पहले ही विचार किया जाय इससे संबंधित सुझाव भी आयोग ने दिए हैं । इसके अतिरिक्त सरकारिया आयोग ने योजना आयोग तथा नेशनल डेवेलपमेंट काउंसिल की कार्यकुशलता में वृद्धि करने में संबंधित सुझाव दिए है जिसके अन्तर्गत योजना-निर्धारण एवं कार्यान्वियन की प्रक्रिया में राज्यों की महत्वपूर्ण भूमिका पर जोर दिया गया है।[1]

अंततः आयोग ने अन्तर्राज्जीय परिषदों की भूमिका को महत्व देते हुए (जो संविधान के अनुच्छेद 263 में उल्लिखित है) स्थायी रूप में इसके गठन का सुझाव दिया है । इसकी अध्यक्षता प्रधानमंत्री द्वारा की जाएगी एवं सभी कैबिनेट मंत्री एवं राज्यों के मुख्यमंत्री इसके सदस्य होगें । यह परिषद सामाजिक-आर्थिक विकास के विभिन्न मुद्दो पर विचार करेगा एवं केन्द्र राज्यों के बीच सामान्य हितों तथा परस्पर सहयोग का मार्ग प्रशस्त करेगा । आयोग ने जोनल काउंसिलों के महत्व को भी स्पष्ट करते हुए इनकी भूमिका पर जोर दिया है।

विगत कुछ वर्षो में भारतीय राजनैतिक परिदृश्य में कुछमहत्वपूर्ण परिवर्तन हुए है जिन्होंने निश्चित रूप से केन्द्र-राज्य संबंधो को भी प्रभावित किया है। 1989 के अन्तिम महीनो में केन्द्र में कांग्रेस का शासन

1- फिर वही,

समाप्त हो गया तथा भारतीय जनता पार्टी एवं वामपंथ द्वारा समर्थित जनता दल की सरकार वी.पी. सिंह के प्रधानमंत्रित्व में सत्ता में आई । उन स्थितियों में जबकि लोक सभा में किसीभी दल का बहुमत नही था तथा राज्यों में विभिन्न राजनीतिक दलों की सरकारें थी , भारतीय राजनैतिक व्यवस्था के वास्तविक संघीय स्वरूप को पुन: स्थापित करने हेतु व्यापक विचार विमर्श प्रारम्भ हुए । जून 1990 में वी.पी. सिंह सरकार ने स्थायी रूप से अंतर्राज्यीय परिषद" की स्थापना की जैसा कि सरकारिया आयोग द्वारा सुझाव दिया गया था । इसी वर्ष केन्द्र में सत्ता परिवर्तन तथा कांग्रेस के पुन: सत्ता में आने तथा पुन: लोक सभा में किसी भी दल को प्रभावशाली बहुमत प्राप्त न होने की स्थिति में विकेंद्रीकरण की प्रवृत्तियों में कोई बदलाव नहीं आया है । हालांकि इस प्रवृत्ति का नकारात्मक पहलू यह रहा है कि कई राज्यों ने अपने अधिकारों को अप्रत्याशित एवं अशोभनीय तरीकों से व्यक्त किया है। उड़ीसा के वृद्ध नेता मुख्यमंत्री श्री बीजू पटनायक की यह धमकी कि यदि केन्द्र द्वारा राज्य को उनके इच्छित आर्थिक साधनों को नही दिया गया तो उड़ीसा की जनता भारत से अलग होने के लिए विद्रोह कर देगी, बिहार के मुख्यमंत्री लालू प्रसाद यादव द्वारा खनिज संपदा पर अधिक रायल्टी की मांग मनवाने हेतु दिल्ली में धरना देने की धमकी तथा केन्द्र के परामर्श के विरूद्ध कावेरी जल विवाद के प्रश्न पर कर्नाटक के मुख्यमंत्री बागरप्पा और तमिलनाडु की मुख्यमंत्री जयललिता द्वारा असमझौतावादी रूख अपनाया जाना इसके उदाहरण है।

एक राजनीतिक संस्कृति के रूप में संघवाद न केवल शासन की प्रजातांत्रिक भावना की अभिव्यक्ति का सच्चा माध्यम रहा है। बल्कि यह भाषा, प्रजाति एवं संस्कृति की विविधताओं से युक्त विशाल भौगोलिक क्षेत्र वाले देशों में एक संयोजक तत्व के रूप में अत्याधिक राजनीतिक महत्व का सिद्ध हुआ है।

इस प्रकार राज्यो द्वारा केन्द्र की नीति का विरोध करना, केन्द्र के निर्देशों का पालन न करना क्षेत्रीयतावादी नीति के प्रमाण है। भारत जैसे विशाल देश में जहाँ अनेको संस्कृतियों, रीति रिवाजों का मिश्रण है वहाँ क्षेत्रीयतावादी तत्वो का हावी रहना स्वाभाविक हैं।

अध्याय - 4

दल - बदल एवं संविद सरकारों की राजनीति

अध्याय - 4

दल -बदल एवं संविद सरकारो को राजनोति

दल- बदल :

दल प्रणालो और दल-बदल को घटनाओं का सम्बन्ध नजदोक का रहा है । दल-बदल का इतिहास उतना हो पुराना है जितना कि प्राचोनतम् दलों का अस्तित्व । ब्रिटेन , कनाडा , आस्ट्रेलिया आदि लोकतांत्रिक देशो में दल-बदल को घटनायें लगातार होतो रहो हैं । दल बदल को परिभाषा के विषय में विद्वानो मे मतभेद रहा है । अंग्रेजो में इसको अभिव्यक्त करने के लिए क्रासिंग आफ फ्लोर्स कार्पेट क्रासिंग पालिटिक्स आफ ओपरचुनिस्म, पालिटिक्स आफ डिफेक्शन शब्दो का प्रयोग किया जाता रहा है ।[1] यदि कोई विधायक या संसद- सदस्य अपने दल का परित्याग करके , 1- किसो विधायक का दल- विशेष के टिकट पर निर्वाचित होकर उसे छोड़ दे तथा किसो दूसरे राजनोतिक दल में शामिल हो जाए 2- अपने दल को छोड़कर बाद में निर्दलोय हो जाए 3- आम-चुनावों में निर्दलोय रूप से निर्वाचित हो और बाद में किसो दल विशेष में शामिल हो जाए 4- अपने दल के को बुनियादोनोतियों का विरोध करते हुए सचेतको के निर्देशों को न माने 5- यदि मिलो- जुलो सरकार के घटक राजनोतिक दलो के सदस्य एक घटक छोड़कर अन्य घटक दल में शामिल हो जाए अथवा विरोधो दलों मे से एक दल छोड़कर दूसरे दल में शामिल हो जाते है 6- राजनोतिक पदो और स्वार्थ साधना के लिए

1- डॉ0 कश्यप सुभाष, दल-बदल और राज्यो को राजनोति (मेरठ 1971) से ।

दूसरे दल में शामिल हो जाए, तो उसे दल-बदल शब्द द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है । अर्थात् किसी विधायक का अपने दल अथवा निर्दलीय मंच का परित्याग कर किसी अन्य दल में जा मिलना तथा दल बना लेना या निर्दलीय स्थिति अपना लेना अथवा अपने दल की सदस्यता त्यागे बिना ही बुनियादी मामलों पर सदन में उसके विरुद्ध मतदान करना दल-बदल कहलाता है ।[1] श्री जय प्रकाश नारायण ने दल बदल की अपनी परिभाषा में कहा था, एक विधान मंडल के लिए निर्वाचित कोई भी सदस्य, जिसे किसी राजनीतिक दल का सुरक्षित चुनाव-चिह्न मिला था, यदि वह चुने जाने के बाद उस राजनीतिक दल से अपने संबंध तोड़ लेने या उसमें अपनी आस्था समाप्त करने की घोषणा करता है तो उसे दल-बदल ही समझा जाना चाहिए, बशर्ते उसकी कार्यवाही सम्बद्ध पार्टी के फैसले के अनुसार हो ।

भारतीय राजनीति के सर्वाधिक प्रचलित प्रवृत्ति का नाम है "दल-बदल" । सामान्य भाषा में इसे खेमा बदलना कहा जा सकता है । भारतीय राजनीति में दल-बदल की घटनाएँ स्वतंत्रता के पश्चात से ही सामने आती रही है। 1947 के निर्वाचनो के पश्चपत् संयुक्त प्रान्त के मुख्य मंत्री गोविन्द बल्लभ पन्त ने मुस्लिम लीग के कुछ सदस्यों को कांग्रेस में शामिल होने का प्रलोभन दिया और दल-बदलुओं में से हाफिज मुहम्मद इब्राहिम को मंत्रिमंडल में शामिल कर लिया ।[2] सन् 1950 में उत्तर प्रदेश के 23 विधायकों ने दल-बदलकर " जन कांग्रेस" नामक नए दल का गठन किया । अगस्त 1958 में उत्तर, प्रदेश विधान सभा के 98 सदस्यों ने

1- डॉ० कश्यप सुभाष- दल -बदल और राज्यों की राजनीति

2- फिर वही पृ० 123

मुख्यमंत्री डॉ० सम्पूर्णानन्द मे अविश्वास व्यक्त किया, जिसके कुछ समय बाद मुख्यमंत्री को त्याग पत्र देना पड़ा। सन् 1962 में मद्रास के राज्यपाल श्री श्रीप्रकाश ने श्री राजगोपालाचारी को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया। कांग्रेस के अल्पमत होते हुए भी जैसे ही राजा जी को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया वैसे ही 16 विरोधी सदस्यों ने कांग्रेसी दल में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया और इस प्रकार कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो गया। 1957 से 1967 तक की अवधि में अनुसन्धानो के अनुसार 542 बार लोगों ने अपने दल-बदले। 1967 में चौथे आम चुनाव के प्रथम वर्ष में भारत में 430 बार लोगो के दल-बदलों का रिकार्ड कायम हुआ है। 1967 के चुनावो के बाद दल-बदलुओं के कारण 16 महीनो के भीतर 16 राज्य सरकारे गिरी। हरियाणा के विधायक श्री गया लाल ने 15 दिन मे ही तीन बार दल-बदल करके राजनीति में नया रिकार्ड कायम किया। उनकी राजनीति के कारण ही राजनीति को "आया राम गया राम" नामक शब्द प्राप्त हुआ।[1]

चतुर्थ आम चुनाव से पूर्व प्रजा समाजवादी पार्टी के नेता अशोक मेहता को योजना आयोग का अध्यक्ष बनाकर कांग्रेस में स्थान दिया गया। इस घटना से अनेक विधायक और संसद सदस्य भी प्रजा समाजवादी दल को छोड़कर कांग्रेस में जा मिले। ऐसा माना जाता है कि चतुर्थ आम चुनाव से पूर्व दल-बदल की प्रक्रिया के द्वारा प्रजा समाजवादी दल ने ही अधिकतम विधायक खोए और उसके विधायक कांग्रेस दल

1- डॉ० कायम सुभाष - दल-बदल और राज्यो की राजनीति मेरठ 1971 पृ० 121

में ही शामिल हुए । दल-बदल का ही परिणाम है कि प्रजा समाजवादी दल, जिनमें कांग्रेस का विकल्प बनने की क्षमता भी टूटता गया और देश में सुदृढ़ प्रतिपक्ष का निर्माण नही हो सका ।[1]

संविद सरकार से अभिप्राय :

संविदा सरकार से अभिप्राय है कि कई दलों की मिली-जुली मिश्रित सरकार का बनना । चुनाव से पूर्व कुछ दल मिलकर के एक निश्चित कार्यक्रम बना लेते हैं, उस निश्चित कार्यक्रम के आधार पर चुनाव लड़ते है, चुनावों में आपसी सामंजस्य तथा तालमेल स्थापित करते है, एक दूसरे के विरुद्ध प्रत्याशी नही खड़ा करते और नेता द्वारा निर्मित मंत्रिमंडल में सभी दलों को यथोचित प्रतिनिधित्व दिया जाता है। कभी- कभी आम चुनावो के बाद भी संयुक्त सरकार का गठन किया जाता है । यदि सदन में किसल दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता है और दो से अधिक दल है तो ऐसी स्थिति में दो से अधिक दल मिलकर एक संयुक्त कार्यक्रम तैयार कर लेते है, सर्वसम्मत नेता चुन लेते हैं और मंत्रिमंडल में सभी दलों को प्रतिनिधित्व दे दिया जाता है । वस्तुत: संयुक्त सरकार मिली-जुली सरकार है जिसमें दलीय सिद्धान्तों और कार्यक्रमों की अनिवार्यता को त्यागते हुए विभिन्न दल या गुट निश्चित कार्यक्रम तय कर लेते हैं और उस कार्यक्रम के क्रियान्वयन हेतु सरकार में शामिल होते है ।[2] वैसे मिली जुली सरकार का प्रयास पूर्व में हुआ है । अंग्रेज सरकार पं० नेहरू के नेतृत्व में जब अन्तरिम सरकार की स्थापना का प्रयत्न किया गया तो कांग्रेस के साथ मुस्लिम लीग को भी सम्मिलित करने की व्यवस्था की गई

1- अकेजनल पेपर, डवलपिंग सोसाइटी 1970

2- काश्यप एवं गुप्त, राजनीति कोष, पृ0 57

थी । यह केन्द्र से मिली-जुली सरकार बनाने की योजना थी । यद्यपि लीग ने पहले असहयोग की नीति अपनायी और बाद में मंत्रिमंडल में शामिल हुए । लियाकत अली खाँ को वित्त विभाग दिया गया, जिसके परिणाम स्वरूप अन्य विभागों का कार्य चलना बंद हो गया था ।[1]

स्वतन्त्रयोत्तर भारतीय राजनीति में कांग्रेस, जनसंघ, स्वतंत्र, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, समाजवादी दल साम्यवादी दल अस्तित्व में आए। किन्तु कांग्रेस ही सुसंगठित और प्रभावशाली दल बना रहा । अनेक वर्षों तक कांग्रेस के ही मंत्रिमंडल केन्द्र एवं राज्य में बने । चुनाव में कांग्रेस की विजय होती रही, तथा दूसरी तरफ राजनीतिक दलों की संख्या में लगातार वृद्धि होती रही । तृतीय आम चुनाव के बाद देश में असंतोष बढने लगा। ऐसे समय डॉ० राम मनोहर लोहिया ने गैर कांग्रेसी दलों को मिलाने के प्रयास प्रारम्भ किए । डॉ० लोहिया का मत था, चुनावों मे कांग्रेस की विजय का कारण गैर कांग्रेसी दलों में एकता का अभाव है । उनके मत आपस में विभाजित हो जाते और ऐसी स्थिति में कम मत प्राप्त करके भी कांग्रेस सत्ता में आ जाता । विरोधी दलों ने देखा कि संयुक्त मोर्चा बनाकर वे कांग्रेस को हरा सकते है, क्योंकि कांग्रेस को कभी भी 45% से अधिक वोट नही मिले । डॉ० लोहिया ने सत्ता पर एकाधिकार खत्म करने के लिए विरोधी दलों को एक साथ लाने की कोशिश की । कांग्रेस के विरोधी किसी भी तत्व से हाथ मिलाने को तैयार रहते थे ।[2]

सन् 1954 में ट्रावन कोरकोचीन के मध्य में मध्यावधि चुनाव के बाद कांग्रेस अपना मंत्रिमंडल न बना सकी थी क्योंकि 148

1- सत्या एम. राय. भारतीय राष्ट्रवाद से ।

2- कोठारी रजनी- भारत में राजनीति से ।

सदस्यीय विधान सभा में कांग्रेस को केवल 44 स्थान प्राप्त हो सके । कांग्रेस के समर्थन से प्रजा समाजवादी दल ने पट्टम थानु पिल्लई के नेतृत्व में अपना मंत्रिमण्डल बनाया था ।[1]

चतुर्थ आम चुनाव के बाद संयुक्त मंत्रिमण्डलों की राजनीति को स्वतंत्रता के पश्चात के भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति कहा जा सकता है। अनेक राज्यों में संयुक्त मंत्रिमंडलो का निर्माण हुआ और कांग्रेस के विकल्प के रूप में इन मिश्रित मंत्रिमंडलों को कांग्रेस दल के राजनीतिक एकाधिकार का एकमात्र वांछनीय विकल्प समझा गया । जिस तत्परता से युक्त मंत्रिमंडलों का निर्माण हुआ, उतनी ही तत्परता से राजनीति में पतन शुरू हो गया ।[2]

राज्यों में दल -बदल एवं संविद सरकारें

हरियाणा :

हरियाणा दल-बदल की प्रयोगशाला रहा है 1967 ई0 के आम चुनाव के फलस्वरूप विधान सभा में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत मिला । कुल 81 स्थानों में कांग्रेस को 48 स्थान मिले और श्री भगवत दयाल शर्मा के नेतृत्व में कांग्रेसी मंत्रिमंडल का गठन हुआ किन्तु एक ही सप्ताह बाद कांग्रेस अध्यक्ष के चुनाव में पराजित हो गई । सत्तारूढ़ दल का उम्मीदवार तीन मतों से हार गया और असंतुष्ट कांग्रेसी विधायक कांग्रेस से अलग हो गए और उन्होंने नवीन हरियाणा दल बना लिया । फिर कांग्रेस ने

1-फिर वही,

2- पार्लियामेंट्री गवर्नमेंट एंड कोयलिसन गवर्नमेंट डु नाट गो टूगेदर- थसीन प्रेम, पालिटिक्स नेशनल एंड इंटरनेसनल पृ0 16

नवीन हरियाणा दल के साथ मिलकर संयुक्त मोर्चे की सरकार बनायी। जिसके मुख्यमंत्री राव वीरेन्द्र सिंह बने । इस तरह उन्हे दल - बदलने का पुरस्कार मिला । विधान सभा के आठ महीने में कांग्रेस दल के 31 विधायकों ने दल-बदल किया । एक विधायक ने पाँच बार, दो ने चार तीन ने तीन बार दल-बदल किया । नवम्बर 1967 में कांग्रेस और संयुक्त मोर्चा दोनो के प्रतिनिधि चौबीस घंटे इसी चक्कर में रहते थे कि विधायकों को जैसे भी हो अपनी ओर तोड-मोड़ लें । कभी कांग्रेस का विधायक संयुक्त मोर्चे में जा मिलता था तो कभी संयुक्त मोर्चे का कांग्रेस में । जो विधायक दल बदलता था उसे मंत्री, उपमंत्री, संसदीय सचिव आदि कुछ तो बना ही दिया जाता था । एक जाट नेता श्री रणधीर सिंह ने हरियाणा कीस्थिति को शोचनीय बताते हुए कहा कि यह शर्म की बात है कि मुख्यमंत्री राव वीरेन्द्र सिंह विधायकों को खरीद रहे है और प्रत्येक विधायक को नगद दहेज देकर मंत्री पद का लालच दिया जा रहा है ताकि वे मुख्यमंत्री बने रह सकें ।[1]

1969 मई में हरियाणा में पुनः चुनाव हुए और कांग्रेस विजयी हुई 9 दिसम्बर 1968 को छः विरोधी सदस्य कांग्रेस में मिल गये ।[2] इस प्रकार दल-बदल के कारण पंद्रह महीने की कम अवधि में दो बार चुनावो की मुसीबत का सामना करना पड़ा । छः विरोधी सदस्यों के कांग्रेस में मिलने से वंशीलाल मंत्रिमंडल और मजबूत होगया । जनवरी 1972 में इस प्रकार के दल-बदल के कारण मुख्यमंत्री ने राज्यपाल को विधान सभा भंग करने का सुझाव दिया, नये चुनावों के परिणाम स्वरूप कांग्रेस को 52 स्थान प्राप्त हुए । एवं इस प्रकार सयुंक्त मोर्चे का

1- कश्यप सुभाष - दल-बदल और राज्यो की राजनीति
 पृ0 205

2- नव भारत टाइम्स 10 दिसम्बर 1968

अन्त हो गया ।

संयुक्त मोर्चा मंत्रिमंडल के काल में किसानों तथा व्यापारियों ने भारी मुनाफा कमाया । अपने आठ महीने के शासन काल में कोई विकास कार्यक्रम हाथ में नही लिया और सारी की सारी योजनाएं कागज पर धरी-की धरी रह गई । मोर्चा मंत्रिमंडल की सारी शक्ति और समय अपने अस्तित्व के लिए लड़ते रहने में बीत गया । राज्य के प्रशासन में अराजकता आ गई । प्रशासन में भ्रष्टाचार तथा विधायकों का हस्तक्षेप बढ़ गया । मोर्चा सरकार ने दल-बदल को प्रोत्साहन दिया। दल बदलुओं को मंत्रि पद दिए गए और लोकतंत्र एक तमाशा बन गया ।[1]

जून 1977 के हरियाणा विधान सभा के चुनावों में जनता को स्पष्ट बहुमत हुआ । किन्तु देवीलाल के नेतृत्व में बनी सरकार एक मिली-जुली सरकार ही थी । जिसमें भारतीय लोकदल और जनसंघ प्रमुख घटक थे । इन घटकों में सत्ता संघर्ष चलता रहा, अंतत: जनसंघ ने देवीलाल को अपदस्थ करके ही चैन की साँस ली । कांग्रेस फार डेमोक्रेसी घटक में भजन लाल मुख्य मंत्री बने । किन्तु जनता (एस) की स्थापना के बाद सरकार अल्पमत में आ गई । 1980 के चुनावों में भजन लाल सहित जनता पार्टी ने अपने आपको कांग्रेस (इ) की सरकार में परिवर्तित कर लिया ।

उत्तर प्रदेश :

उत्तर प्रदेश को भारत का लघु रूप कहा जाता है । चौथे आम चुनाव में कांग्रेस दल को विधान सभा में पूर्ण बहुमत नही मिल सका ।

1- डॉ० कश्यप सुभाष - दल-बदल की राजनीति पृ० 206

5 मार्च 1967 को सभी विरोधी दलों ने संयुक्त विधायक दल का निर्माण किया और रामचन्द्र विकल को नेता चुना,[1] 9 मार्च को ही संविद ने एक न्यूनतम कार्यक्रम स्वीकार किया। 12 मार्च को कांग्रेस विधान मंडल के नेता चन्द्रभान गुप्त को राज्यपाल ने मंत्रिमंडल बनाने का आमंत्रण दिया, लेकिन गुप्त का मंत्रिमंडल केवल 18 दिन चला। चरण सिंह ने 17 विधान सभा सदस्यों को साथ लेकर विरोधी पक्ष में स्थान ग्रहण किया। संविद ने चरण सिंह को सर्व सम्मति से अपना नेता निर्वाचित किया। लेकिन जल्द ही संविदा में दरार पड़नी शुरू हो गई। कांग्रेस एवं संविद में दल-बदल का सिलसिला जारी रहा। संसोपा ने चेतनावनी दी कि यदि छः माह में यदि लगान माफी का प्रश्न हल नहीं हुआ तो वह सरकार का साथ छोड़ देगी। जनसंघ ने कहा कि यदि संविद के अन्य घटकों ने अपनी उपेक्षा की तो संघ की कार्य समिति अपने मंत्रियों को आदेश देगा कि वे अपने पद से त्याग पत्र दे दें। अंततः संसोपा तथा साम्यवादी दलों ने सरकार का साथ छोड़ दिया। चरण सिंह ने दो-तीन बार संविद समन्वय समिति को इस्तीफा दिया संविद ने चरण सिंह के स्थान पर राम चन्द्र विकल को अपना दूसरा नेता निर्वाचित किया। लेकिन संविद के अन्य घटकों ने उन्हे नेता मानने से इंकार कर दिया। राष्ट्रपति ने अनिश्चय की स्थिति में विधान सभा को भंग कर दिया विधान सभा भंग होने के साथ ही संविद भी विघटित हो गया। उसके कुछ घटकों, जनसंघ, भारतीय क्रांति दल ने स्वतंत्र रूप से मध्यावधि चुनाव में भाग लिया। कांग्रेस को 211 स्थान मिले। चन्द्रभान गुप्त मुख्यमंत्री बने। उत्तर प्रदेश में संविदा सरकार के असफलता का कारण संविद के घटकों के बीच नीतिगत मतभेद थे। वस्तुतः संविद सरकार

1- 7 मार्च नवभारत टाइम्स 1968

अपने अन्तर्विरोधो के कारण हो समाप्त हो गई ।

1977 जून के उत्तर प्रदेश विधान सभा चुनाव में जनता पार्टी को स्पष्ट बहुमत मिला । भारतीय लोकदल घटक के रामनरेश यादव मुख्य-मंत्री बने ।[1] यहजनता सरकार यथार्थ में लोकदल और जनसंघ की मिली-जुली सरकार ही थी । धीरे-धीरे गुटो में मतभेद बढ़ता गया । रामनरेश यादव ने चार जनसंघी मंत्रियों को बरखास्त कर दिया तो जनसंघ घटक ने रामनरेश यादव को त्यागपत्र देने के लिए बाध्य कर दिया । बाद में कांग्रेस फार डेमोक्रेसी घटक को प्राथमिकता देकर बनारसीदास मुख्यमंत्री बनाए गए । उनकी सरकार कुछ दिनो के लिए कांग्रेस ( ) का समर्थन प्राप्त करती रही । जनवरी 1980 के चुनाव के कांग्रेस आई को बहुमत प्राप्त हुआ । 1989 के निर्वाचन के पश्चात् कांग्रेस (आई) के अल्पमत आने के बाद जनता दल (जो कि लोकदल और जनता दल (अ) का संविद रूप था) के मुलायम सिंह यादव मुख्यमंत्री बने ।

राजस्थान :

भारत के मानचित्र पर राजनीतिक इकाई के रूप में राजस्थान का आविर्भाव 1948-50 में देशी रियासतो के एकीकरण के फलस्वरूप हुआ चौथे आम चुनाव से पूर्व कांग्रेस को पराजित करने के लिए जनसंघ और स्वतंत्र दल ने आपस में चुनाव- समझौता कर लिया । कुम्भ राम आर्य की जनता पार्टी भी इस समझौते में शामिल हो गयी । 184 सदस्यीय विधान सभा में कांग्रेस को 80 स्थान प्राप्त हुए , 16 सदस्य निर्दलीय थे जिनमे से 11 जनता पार्टी से असंतुष्ट कांग्रेसी थे । 1 मार्च 1967 को

1- नवभारत टाइम्स 26जून 1977

जनसंघ स्वतंत्र , संसोपा और जनता पार्टी के विधायकों ने तथा 22 निर्दलीय विधायकों ने आपस में मिलकर महारावल लक्ष्मण सिंह के नेतृत्व में एक संयुक्त मोर्चे का गठन किया सुखाड़िया ने भी 94 विधायकों की सूची राज्यपाल को दी तथा मोर्चे ने 96 विधायकों की । राज्यपाल ने 21 विधायकों से मुलाकात की और यह निर्णय लिया कि कांग्रेस को ही बहुमत प्राप्त है । सुखाड़िया ने मंत्रिमंडल का गठन किया और उसके बाद संयुक्त मोर्चा टूटता गया और दल-बदल के कारण कांग्रेस दल की संख्या 110 हो गयी इस प्रकार राजस्थान में संयुक्त मोर्चे की सरकार सत्ता मे आने से पूर्व ही टूट गयी । यह सच है कि संयुक्त मोर्चे की राजनीति को असफल बनाने में राज्यपाल की भूमिका महत्वपूर्ण थी, लेकिन दल बदल में मोर्चे के नेता उतने कुशल साबित नही हुए, जितने, उनके प्रतिद्वन्द्वी नेता ।[1]

जून 1977 के चुनाव के बाद राजस्थान विधान सभा में जनता पार्टी को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ और जनसंघ घटक के भैरो-सिंह शेखावत मुख्य मंत्री बने ।[2] भारतीय लोकदल घटक के नेता महारावल लक्ष्मण सिंह और दौलत राम असंतुष्ट गुट के थे । जिसके कारण जनसंघ एवं भारतीय लोकदल के बीच सत्ता की प्रतिस्पर्धा चलती रही लोकदल के गठन के बाद महारावल लक्ष्मण सिंह, मास्टर आदित्येन्द्र प्रो0 केदार आदि ने इस्तीफा देकर सरकार को अल्पमत में लाने की कोशिश की । चूँकि जनसंघ घटक के विधायकों की संख्या काफी अधिक थी, अतः सरकार को अपदस्थ नहीं किया जा सका ,और फरवरी 1980 तक यह सरकार चलती रही ।

1- 16 मार्च 1967 नवभारत टाइम्स पृ0 3

2- राजस्थान पत्रिका उदयपुर, जून 1977

हस्तक्षेप करते हैं। इन कारणो से संविद नेता राजमाता ने भी त्यागपत्र दिया एवं मुख्यमंत्री ने भी। प्रसोपा ने तय किया संविद सरकार को समर्थन बंद कर दिया जाय।

जनसंघ की मांग एवं नरेश के पक्ष में गोंविद नारायण सिंह ने मुख्यमंत्री पद छोड़ दिया। इस बीच सिह के साथ 20 सदस्य कांग्रेस से जा मिले और श्यामाचरण शुक्ल के नेतृत्व में कांग्रेसी सरकार ने शपथ ग्रहण की। जब कांग्रेस के दल-बदलू संविद सरकार का मजा-लूटकर पुन: कांग्रेस में मिल गए तो संविद सरकार का अस्तित्व समाप्त हो गया संविद सरकार के पतन का मुख्य कारण उसके घटकों में एकता का अभाव और मुख्यमंत्री की दुर्बल स्थिति थी।[1]

जून 1977 में मध्य प्रदेश विधान सभा चुनावो मे जनता पार्टी को स्पष्ट बहुमत मिला। जनता पार्टी की यह सरकार मोटे रूप से जनसंघ और सोशलिस्ट घटकों की मिली- जुली सरकार ही थी। दोनो घटकों में आए दिन तनाव एवं मतभेद उत्पन्न होते रहे सोशलिस्ट घटकों ने मुख्यमंत्री वीरेन्द्र कुमार सकलेचा का लगातार विरोध किया। विरोध की स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी कि 1980 के लोक सभा चुनाव के बाद उन्होंने पद से इस्तीफा दे दिया। फरवरी 1980 तक यह सरकार इसलिए चलती रही क्योंकि जनसंघ की सदन में स्थिति मजबूत थी।

केरल :

केरल में प्रथम आम चुनाव के बाद से ही संविद सरकारे बनती रहीं। चतुर्थ आम चुनाव के बाद केरल में बामपंथी दलो तथा

1- फिर वही,

मुस्लिम लीग का संयुक्त मोर्चा बना। 133 सदस्यीय विधान सभा में मार्क्सवादी साम्यवादी दल को 52 तथा साम्यवादी दल को 19 स्थान मिले। नम्बूदरी पाद के नेतृत्व में वामपंथी मोर्चे की सरकार बनी। लेकिन सरकार की नीतियों का क्रियान्वयन न हो पाने खाद्य समस्या के विकट हो जाने, मार्क्सवादी -साम्यवादी दल द्वारा "गोपाल सेना" गठित करके लोगों को सताये जाने के कारण संविद सरकार में मतभेद बढ़ता गया एवं 1969 में नम्बूदरीपाद ने इस्तीफा दे दिया। अच्यूत मेनन के नेतृत्व में साम्यवादी दल का नया मंत्रिमंडल बना जो केवल 9 महीने चला। 17 सितम्बर 1970 को राज्य में पुनः चुनाव हुए राज्य के 21 दलों ने तीन मोर्चे बनाए। प्रथम मोर्चे में प्रजा समाजवादी दल, कांग्रेस समाजवादी दल, के.आई.पी. दल थे इसका नेतृत्व मार्क्सवादी साम्यवादी दल ने किया। दूसरे मोर्चे का नेतृत्व साम्यवादी दल ने किया जिसमे आर.एस.पी., पी.एस.पी. तथा मुस्लिम लीग थे, तीसरे मोर्चे में कांग्रेस, जनसंघ, स्वतंत्र, द्रमुक इत्यादि दल थे। चुनावों के बाद कांग्रेस सबसे बड़े दल के रूप में उभरा उसे 133 में 32 स्थान सदन में मिले।[1] अच्यूत मेनन के नेतृत्व में मंत्रिमंडल बना। जिसमें कांग्रेस ने बाहर से समर्थन दिया। जुलाई 1975 को केन्द्रीय सरकार ने इस मंत्रिमंडल का कार्यक्रम अनु 172 के अनुसार छः माह के लिए बढ़ा दिया बाद में कांग्रेस भी सरकार में शामिल हो गई।

मार्च 1977 के चुनाव का केरल की राजनीति पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ा, लोकसभा एवं विधान सभा दानो में सत्ताधारी संयुक्त मोर्चे को सफलता मिली। मुख्य बात यह रही कि कांग्रेस को

1- फिर वही, पृ0 166-167

पहले के मुकाबले अधिक सोटें मिलो । सबसे बड़े विधायक दल के नेता करूणा करन, मुख्यमंत्री बने । राजन मामले के राजनीतिक विवाद के कारण करूणाकरन को इस्तीफा देना पड़ा, फिर ए. के. एंटनी मुख्यमंत्री बने । बाद में कांग्रेस विभोजन के बाद एंटनी को इस्तीफा देना पड़ा। इसके बाद साम्यवादी दल के पी. के. वासुदेवन मुख्य मंत्री बने, परन्तु मोर्चे मे मतभेद के कारण उन्हें भी कुरसी त्यागनी पड़ी । 12 अक्टूबर 1979 को मुस्लिम लीग के सी एच मोहम्मद कोया के तीन सदस्यीय मंत्री मंडल ने शपथ ली, लेकिन सदन में बहुमत सिद्ध न हो पाने के कारण कोया ने त्याग पत्र दे दिया । 30 नवम्बर 1979 को राज्य विधान सभा भंग कर दी गई एवं 4 दिसम्बर 1979 को यहाँ राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया ।[1] 20 जनवरी 1980 को विधान सभा चुनाव हुए । मार्क्सवादी साम्यवादी दल के सात सदस्यीय मोर्चे को 140 मे से 93 स्थान मिले । ई. के नयनार मुख्यमंत्री बने । लेकिन 16 अक्टूबर 1981 को ए. के. एण्टनी गुट (कांग्रेस शरद) तथा बाद में 9 सदस्यीय मणिगुट के सरकार से समर्थन वापस लेने केकारण नयनार सरकार अल्पमत में आ गई एवं 20 अक्टबर 1981 राज्य मे छठी बार राष्ट्रपति शासन लाग कर दिया गया। इसके पश्चात् कांग्रेस(ई) नेता करूणाकरन के नेतृत्व में एक अन्य मिली-जुली सरकार ने सत्ता संभाली, किन्तु केरल कांग्रेस के विधायक लोत्यन नेबाडन के सरकारी पक्ष से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेने से सरकार अल्पमत में आ गई । मई 1982 के मध्यावधि चुनाव में कांग्रेस (इ) के नेतृत्व वाले लोकतांत्रिक मोर्चे को 140 मे से 77 स्थान मिले । करूणाकरण मंत्रिमंडल की सरकार बनी इस सरकार की स्थिति भी ढ़टकी

1- 5 दिसम्बर 1979 नवभारत टाइम्स

24 जनवरी 1980, नवभारत टाइम्स पृ0 2

के आपसी तालमेल के कारण डगमगाती रही । इस प्रकार केरल में अच्युत मेनन की सरकार के अलावा बनी संयुक्त मोर्चे की सरकारें ज्यादे दिन तक न चल पायी ।

पश्चिम बंगाल :

चतुर्थ आम चुनाव से पूर्व पश्चिम बंगाल में कांग्रेस की सरकार लगातार बनती रही, चतुर्थ आम चुनाव में कांग्रेस को एक बड़ी पराजय का मुंह देखना पड़ा । 25 फरवरी 1967 को संयुक्त वामपंथी मोर्चे और जनवादी संयुक्त वामपंथी मोर्चे के कुछ गुटों ने मिलकर एक संयुक्त लोकतंत्रात्मक मोर्चे की स्थापना की ।[1] बंगाल कांग्रेस जो कि कांग्रेस के दल-बदलू नेताओं की पार्टी थी, के अजय मुखर्जी इस मोर्चे के नेता बने । लेकिन वामपंथी साम्यवादियों की राष्ट्र विरोधी एवं हिंसात्मक कारवाइयों नक्सलवादी विद्रोह, घेराव, हड़तालों की वजह से मोर्चे में दरार पड़ गयी । बंगला कांग्रेस के अनुसूचित जाति के 18 विधायकों ने अनुसूचित जाति के किसी सदस्य को मंत्रि मंडल में न शामिल किए जाने के प्रश्न पर मोर्चो सेअलग होने की धमकी दी । मंत्रिमंडल की बैठक में मुख्य मंत्री एवं उप मुख्यमंत्री ज्योतिबसु के बीच झड़प हो गयी । डॉ० पी. सी. घोष के संयुक्त मोर्चा मंत्रिमंडल से इस्तीफा दे देने के कारण तथा 17 अन्य विधायकों को मोर्चा छोड़ देने के कारण संयुक्त मोर्चा सरकार अल्पमत में आ गई । राज्यपाल ने संयुक्त मोर्चा सरकार को बरखास्त कर दिया । डॉ० घोष ने कांग्रेस दल के सहयोग से युक्त मोर्चे से दल बदलकर अलग हुए सदस्यों को लेकर एक अल्पसंख्यक मंत्रिमंडल बना लिया । बाद में कुछ कांग्रेसी भी सरकार में शामिल हो

1- 26 जनवरी 1967 नवभारत टाइम्स

गए , लेकिन मंत्रिपरिषद के वितरण के कारण कांग्रेस सदस्यों में मतभेद हो गया । ऐसी स्थिति में राज्यपाल ने विधान सभा भंगकर राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की ।

फरवरी 1969 में विधान सभा के मध्यावधि चुनाव हुए 12 दलों के संयुक्त मोर्चे 280 में से 214 स्थान मिले अजय मुखर्जी के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चे ने सरकार बनायी । इसके बाद से ही राज्य में नक्सलवादियों की गतिविधिया बढ़ गई । मुख्यमंत्री तथा बंगला कांग्रेस ने राज्य से अव्यवस्था समाप्त करने के लिए । दिसम्बर 1969 को सत्याग्रह शुरू कर दिया ।[1] अजय मुखर्जी एवं ज्योतिवसु के बीच का मतभेद शिखर तक पहुँच गया। विधान सभा में मुख्यमंत्री ने स्वयं स्वीकार किया कि मोर्चा सरकार ने बहुत सारे असभ्यतापूर्ण कार्य किए है। अराजकता, हिंसा के कारण मुख्यमंत्री ने स्वयं त्याग पत्र दे दिया । राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया और संयुक्त मोर्चा अपने ही मतभेदो से टूट गया।

मार्च 1971 के चुनाव के पश्चात् अजय मुखर्जी कांग्रेस के साथ मिलकर लोकतंत्रात्मक संयुक्त मोर्चे का गठन करते हैं । लेकिन बंगला देश के संदर्भ को लेकर पुनः राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाता है। मार्च 1972 में पुनः विधान सभा चुनाव हुए जिसमे कांग्रेस को पूर्ण बहुमत मिला । सिद्धार्थशंकररे के नेतृत्व में 1975 के आपातकाल तक कांग्रेस सरकार चलती रही जून 1977 के चुनाव के बाद कांग्रेस का स्थान मार्क्सवादी साम्यवादी दल ने ले लिया । साम्यवादी दल को 244 में 177 स्थान मिले । 1979 से लेकर 1984 तक लगातार तीन बार मार्क्सवादी साम्यवादी दल की ज्योति वशु की सरकार चल रही है। पहले स्पष्ट बहुमत न होने के कारण सरकारे असफल रही, लेकिन 1977

1- 2 दि0 1969 - नव भारत टाइम्स

के पश्चात् स्पष्ट बहुमत मिलने से संयुक्त मोर्चे की सरकार निर्विघ्न चलती चली आ रही है ।

बिहार :

चतुर्थ आम चुनाव में बिहार मे कांग्रेस की पराजय हुई । विधान सभा में गैर कांग्रेसी दलों में संसोपा के सदस्य सबसे अधिक थे । उसने गैर कांग्रेसी दलों के साथ गठजोड़ किया और 31 सूत्रीय कार्यक्रम के आधार पर संविद सरकार का निर्माण किया । इस संविद में संसोपा, प्रसोपा, जनसंघ, जन क्रांति दल, साम्यवादी दल शामिल हुए । महामाया प्रसाद सिन्हा को नेता तथा कपूरी ठाकुर को उप नेता चुना गया । राज्यपाल ने सिन्हा को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया ।

दल-बदल के द्वारा संविद सरकार को अपदस्थ करने की कोशिश की गई । मुख्य मंत्री ने मोर्चे की सरकार के लिए कुछ कांग्रेसी विधायकों को वचन दिया कि वे कांग्रेस को छोड़कर यदि मोर्चे में शामिल हो जाए तो उन्हें मंत्री पद दिया जाएगा । संयुक्त मोर्चे के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव पास हो जाने से सिन्हा ने अपने मंत्रिमंडल का त्याग पत्र दे दिया ।

इसके बाद वी पी मंडल के नेतृत्व में 47 दिन का अत्यकालिक मंत्रिमंडल बना जिसे कांग्रेस का समर्थन प्राप्त था । लेकिन इसके विरुद्ध भी अविश्वास प्रस्ताव पास हो गया । श्री भोला पासवान के नेतृत्व मे 95 दिन के लिए एक मंत्रिमंडल बना, लेकिन अंतत: इसे भी दल-बदल के कारण इस्तीफा देना पड़ा एवं राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया ।[1]

1- डॉ0 कश्यप सुभाष-दल बदल और राज्यो की राजनीति पृ0 149

फरवरी 1969 में मध्यावधि चुनाव हुए इसमें किसी भी पार्टी को स्पष्ट बहुमत न मिल सका कांग्रेस दल के नेता सरदार हरिहर सिंह ने सरकार बनायी लेकिन जल्द ही दल-बदल के कारण बजट मांगो पर उनकी सरकार गिर गयी, इसके बाद उन्होंने त्याग पत्र दे दिया। इसके पश्चात् विपक्ष के नेता भोला पासवान ने संयुक्त मोर्चा मंत्रिमंडल बनाया, लेकिन नाटकीय ढंग से 34 सदस्यीय जनसंघ ने पासवान सरकार से 7 दिन बाद ही समर्थन वापस ले लिया। राज्यपाल ने राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की लेकिन विधान सभा को भंग नही किया। इस प्रकार बिहार में मार्च 1967 से अगस्त 1969 के बीच दल-बदल के कारण छः मुख्यमंत्री बदले। ये सभी मुख्यमंत्री स्वयं दल-बदलू थे। 1967-69 में सौ विधायकों ने लगभग दो बार कुछ ने चार बार दल बदला कुल मिलाकर दल-बदल की घटनाएं 200 से अधिक रही। जो सरकार सबसे अधिक दिन चली उसकी अवधि थी 9 महीने 25 दिन।[1] अक्टूबर-नवम्बर 1969 में कांग्रेस विभाजन के श्री दरोगा प्रसाद राय को कांग्रेस का नेता चुना गया। राय ने राज्यपाल से संयुक्त मोर्चा सरकार बनाने की प्रार्थना की। साम्यवादी दल, प्र.सो.पा., भा.क्रा.द, शोषित दल झारखण्ड पार्टी से विचार करने के बाद 35 सूत्रीय कार्यक्रम बना और एक बार फिर 16 फरवरी 1970 को संयुक्त मोर्चा सरकार कायम कर दी गई। 26 मई 1970 को लोकतांत्रिक कांग्रेस गुट अलग हो गया व प्र.सो.पा. के कुछ सदस्य भी अलग हो गए। 10 अक्टूबर 1970 को कांग्रेस के ही कुछ विधायकों राय के विरूद्ध शिकायत पेश की और नेता बदलो "अभियान शुरू कर दिया। 18 दिसम्बर 1970 को विधान सभा में राय सरकार पराजित होगई और कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व में नई संविद

1- डॉ० कश्यप सुभाष - दल-बदल और राज्यों की राजनीति (मेरठ 1971) से पृ० 150

सरकार बन गई ।

कांग्रेस, साम्यवादी, प्र.सो.पा., भा. क्रा. द. तथा झारखंड पार्टी ने मिलकर प्रगतिवादी विधायक फ्रंट, बनाया तथा कर्पूरी ठाकुर के संविद सरकार को अपदस्थ करने का प्रयास करने लगे । परन्तु 1 जून 1971 को कर्पूरी ठाकुर ने त्याग पत्र दे दिया ।[1] इसके बाद प्रगतिवादी विधायक फ्रंट" के नेता ने राज्यपाल के आमंत्रण पर सरकार बना ली लेकिन यह सरकार भी अधिक न चल सकी । राष्ट्रपति को विधान सभा भंग करनी पड़ी । मार्च 1972 के चुनाव मे कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ ।

जून 1977 के विधान सभा चुना ेमें जनता पार्टी को स्पष्ट बहुमत मिला, लोकदल, घटक के कर्पूरी ठाकुर मुख्यमंत्री बने । उत्तर प्रदेश में जनसंघ घटक को मंत्रिमंडल म न शामिल किए जाने के फलस्वरूप बिहार में जनसंघ ने लोकदल के मंत्रिमंडल को सत्ता से हटाने के लिए कोई कसर बाकी न रखी । राम सुन्दर दास मुख्यमंत्री बने । राष्ट्रीय स्तर पर जनता पार्टी का विभाजन होने के बाद जनसंघ का ये सत्ताधारी घटक कांग्रेस(इ) के समर्थन से सत्ता से बना रहा ।

उड़ीसा -

चतुर्थ आम चुनाव में उडीसा विधान सभा में से 140 सदस्यों में 49 स्थान स्वतंत्र दल, 30 कांग्रेस, 26 जन कांग्रेस, 7 सी.पी.आई. 2 सं. सो. पा. तथा 1 स्थान सी.पी.एम. को मिला । स्वतंत्र दल के नेता आर. एन. सिंह देव ने 8 मार्च 1967 को जन कांग्रेस के समर्थन से संविद सरकार का गठन किया।[2] दोनों दल ने संयुक्त रूप से चुनाव

1- फिर वही,

3- 9 मार्च 1967 नवभारत टाइम्स पृ0 ।

लड़ा था एवं 75 स्थान दोनो ने मिलकर प्राप्त किया था । यह सरकार जनवरी 1971 तक अच्छी तरह काम करती रही । जनवरी 1971 में जन कांग्रेस ने स्वतंत्र दल के मंत्रियों के भ्रष्टाचार के कारण समर्थन वापस ले लिया । सदन मे अल्पमत होने से 9 जनवरी 1971 को मुख्य मंत्री ने त्याग पत्र दे दिया ।[1] 5 मार्च 1971 को चुनाव हुए जिसमे किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नही मिला उत्कल कांग्रेस ने स्वतंत्र पार्टी, झारखण्ड पार्टी तथा निर्दलीय सदस्यो को साथ लेकर संयुक्त मोर्चा बनाया जिसके नेता विश्वनाथ दास चुने गए । 3 अप्रैल 1972 को नई सरकार अस्तित्व में आयी । शीघ्र ही उत्कल कांग्रेस सरकार से हट गयी, जून 1972 नन्दनी सत्पथी के नेतृत्व में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बना । बीजू पटनायक ने प्रगति दल बनाकर बगावत कर दी सत्पथी सरकार के कई विधायक भी अलग हो गए, जिसके कारण सत्यपथी सरकार ने बहुमत खो दिया एवं मंत्रिमण्डल ने इस्तीफा दे दिया । राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू हो गया ।

1974 में उड़ीसा फिर चुनाव हुए । भारतीय साम्यवादी दल ने कांग्रेस के साथ मिलकर चुनाव समझौता किया तथा कांग्रेस को सरकार बनाने को मदद की । भारतीय साम्यवादी नन्दनी सत्पथी सरकार में शामिल न होकर बाहर से समर्थन दिया । बाद में कुछ निर्दलीय सदस्यों के कांग्रेस में मिल जाने के कारण सरकार टिकाऊ हो गयी ।

गुजरात :

गुजरात में कांग्रेस की सरकार मार्च 1974 में राष्ट्रपति

1- 14 जनवरी, टाइम्स ऑफ इंडिया, 1971 पृ0 ।

शासन लागू होने तक चली आ रही थी । पहली बार जून 1975 में हुए गुजरात विधान सभा चुनाव में स्पष्ट बहुमत नही मिला । वस्तुत: गुजरात का यह चुनाव तीन राजनीतिक शक्तियों के इर्द-गिर्द घूमता रहा -इन्दिरा गाँधी, मुरार जी देशाई और चिमन भाई पटेल कांग्रेस को 182 सदस्यीय विधान सभा में 75 स्थान प्राप्त हुए, जनता मोर्चे को 86 स्थान जिसमें संगठन कांग्रेस 56, जनसंघ को 18, भारतीय लोकदल को दो सो पा को 21 एवं मोर्चे द्वारा समर्थित दो निर्दलीय भी चुनाव जीत गये, तथा किसान मजदूर लोकपक्ष को 12 स्थान मिले ।

गुजरात में जनता मोर्चा की सरकार पहली गैर कांग्रेसी सरकार थी । गैर साम्यवादी दलों ने जनता मोर्चे का निर्माण कर सत्ताधारी कांग्रेस के लिए विकल्प तैयार करने की जोरदार पहल की । वैसे तो जनता मोर्चे को स्पष्ट बहुमत इस चुनाव में नही मिला , किन्तु किसान मजदूर लोकपक्ष के बाहरी समर्थन से मोर्चे ने सरकार बनायी । लेकिन दल-बदल के कारण 9 महीने में ही इस सरकार का अंत हो गया । मार्च 1979 मे दल-बदल के फलस्वरूप मोर्चे की सरकार फिर बनी ।[2]

जनता मोर्चे में पाँच दल शामिल थे , संगठन कांग्रेस, जनसंघ सोशलिस्ट पार्टी, राष्ट्रीय मजदूर पार्टी और भारतीय लोकदल , लेकिन शुरू से ही वास्तविक सत्ता जनसंघ के हाथो में थी । मार्च 1977 के लोकसभा चुनावो के बाद जनता मोर्चे की सरकार जनता पार्टी के नाम से जानी जाने लगी । जनता पार्टी के केन्द्रीय स्तर पर उभरते घटकवाद का प्रभाव बाबू भाई पटेल के मंत्रिमंडल पर भी पड़ने लगा । यदा-कदा

1- टाइम्स ब्यूरो ।

2- फिर वही,

जनसंघ घटक एवं संगठन कांग्रेस के मध्य रस्सा-कस्सी होती रहती थी । फिर भी यह संविद सरकार 1980 तक सफलता पूर्वक कार्य करती रही ।

केन्द्र में मिली जुली सरकार की राजनीति एवं दल-बदल :

मार्च 1977 के चुनावों से भारतीय राजनीति को एक नया आयाम मिला । चार विरोधी दलोंके संगठन कांग्रेस, भारतीय जनसंघ, भारतीय लोकदल और सोशलिस्ट पार्टी ने आपसमे समझौता करके तथा अपनी पार्टी को समाप्त करके जनता पार्टी नाम से नये पार्टी का गठन किया । बाद में जगजीवन राम की कांग्रेस फार डेमोक्रेसी का भी जनता पार्टी में विलय हो गया। 24 मार्च 1977 को मुरार जी देशाई के नेतृत्व में जनता पार्टी की केन्द्र में सरकार बनी जो कि मात्र 28 महीनो तक ही चल पाई । ये सरकार वस्तुत: संविद सरकार ही थी जिसके ऊपर जनता पार्टी का आवरण था । जनता पार्टी के पाँच छ: घटक अधिकतम लाभ एवं अपना वर्चस्त पार्टी पर अधिक रहे, के लिए आपस में मतभेद लगातार चलता रहे । प्रधान मंत्री के पद पर मोरार जी देशाई एवं पार्टी अध्यक्ष के पद पर चन्द्रशेखर का चयन भी राजनैतिक सौदेबाजी का परिणाम था। 1977 के चुनावो में जनता पार्टी के चुने सदस्यों की संख्या 301 थी । घटकों के चुने सदस्यों की संख्या के आधार पर ये अनुपात था ।[1]

1- 31 मार्च 1977 टाइम्स ऑफ इंडिया पृ0 3

बिशेष - 1977 लोकसभा में जनता पार्टी में घटकों का प्रतिनिधित्व तथा मंत्रिमंडल में मंत्रियो की संख्या आंकडे परिशिष्ट में देखे ।

शुरू के कुछ दिनों के बाद से मतभेद उभर कर सामने आने लगे। क्योंकि एक तो चरण सिंह एवं जगजीवन राम दोनो ही मुरार जी देशाई को अपदस्थ करके प्रधानमंत्री बनने का सपना संजोए हुए थे दूसरे जनसंघ एवं लोकदल को अपने वर्चस्व को लेकर छीटाकंसी। अंततः 843 दिनो के बाद इस सरकार का मुरार जी देशाई के त्यागपत्र के साथ अन्त हुआ। 29 जुलाई 1979 को (जनता एस) तथा कांग्रेस (अर्स) ने चौधरी चरण सिंह के नेतृत्व में संविदा सरकार बनायी।[1] बाद में इसमे अन्नाद्रमुक भी शामिल हो गया, धीरे-धीरे एक गुट पुनः इस सरकार से अलग होगया। यह सरकार संसद का विश्वास अर्जित नही कर सकी। 20 अगस्त को चरण सिंह के त्यागपत्र एवं राष्ट्रपति से मध्यावधि चुनाव कराने की सिफारिश के साथ इस संविद सरकार का अन्त हो गया।

नौवी लोक सभा के निर्वाचन के पश्चात् राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार:

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की लम्बी पृष्ठभूमि में सन् 1989 में एक नया एवं महत्त्वपूर्ण विकास हुआ। मार्च 1989 में चार राजनीतिक संगठनो ने नया दल बनाने का निश्चय किया। वे चार संगठन थे - चन्द्रशेखर मधु दंडवते, रामकृष्ण हेगड़े का बहुसंख्यक गुट की जनता पार्टी, लोकदल का बहुसंख्यक गुट (देवीलाल, अजीतसिंह गुट) कांग्रेस से निष्कासित सदस्यों, वी.पी. सिंह, अरूण नेहरू, विद्याचरण शुक्ल का जनमोर्चा एवं राष्ट्रीय संजय मंच (मेनका गांधी द्वारा निर्मित)। इन संगठनो ने मिलकर जनता दल का निर्माण किया।

1- 30 जुलाई 1979 नवभारत टाइम्स पे0।

नवीं लोक सभा चुनाव में जनता दल को 525 मे से 141 स्थान मिले, कांग्रेस को 195, भा.ज.पा. को 86 सी.पी.एम को 32 एवं सी.पी.आई को 28 स्थान मिले । इस प्रकार 1989 का लोक सभा के चुनाव परिणाम मील के पत्थर साबित हुए ।[1] जनता दल ने भा. जा. पा. एवं सी.पी. आई(एम) के बाहरी समर्थन एवं तेलगूदेशम असम गण परिषद तथा डी.एम. के आन्तरिक सहयोग से सरकार बनायी जिसे राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार कहा गया ।

नौवीं लोक सभा के चुनाव परिणाम से किसी भी दल का स्पष्ट बहुमत नहीं था जो कि सरकार बना सके । सन् 1977 में सात दलों के विलय से बनी जनता पार्टी को 41.32% मत था 54.43% सीटे मिली जबकि 1989 में जनता दल 17.73% मत था 27.10% सीटे (141) मिली । कांग्रेस को किसी भी दल का समर्थन न मिलने के कारण जनता दल ने, भारतीय जनता पार्टी (86 सीटें) तथा वाम-पंथी मोर्चे (52 सदस्यो के साथ) के समर्थनसे सरकार का गठन किया जो कि राष्ट्रीय निर्माण एवं विकास के अनेक प्रमुख मुद्दो और रणनीतियों पर एक दूसरे के विरोधी हैं । राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के लिए नया अनुभव है क्योंकि समर्थन देने वाली पार्टियों ने सरकार में हिस्सा नहीं लिया।[2] दो विरोधी विचारधारा के पार्टियों द्वारा समर्थित सरकार के अस्तित्व पर पहले ही दिन से संदेह प्रकट किया जाने लगा - क्योंकि दो विरोधी पार्टियों का

1- भारतीय शासन एवं राजनीति पृ0 639-640
सुशीला कौशिक 1990।

2- खान रशी उद्दीन - भारत मे लोकतंत्र - 1990 पृ0 105

समर्थन कब तक मिलेगा यह नीतियों पर निर्भर करेगा ।

दल-बदल की राजनीति एवं संविद सरकारो का मूल्यांकन -

भारतीय राजनीति के 1967 के बाद के अध्ययन से मुख्यत: एक तो ये बात पता लगती है कि केन्द्र की अपेक्षा राज्यो में दल-बदल अधिक हुआ, एवं इससे विरोधी दलो को अधिक लाभ हुआ एवं 1971 के बाद के दल-बदल से कांग्रेस को अधिक लाभ पहुँचा, लेकिन इन दल-बदल सेबनी संविद सरकारो का जल्द ही पतन शुरू हो गया । मिली जुली सरकारो के पतन का दूसरा कारण वैचारिक मतभेद था ।

प्रो0 रजनी कोठारी के अनुसार दल-बदल के मुख्य कारण चुनाव के पहले टिकट का बँटवारा और चुनाव के बाद मंत्रिमण्डल का गठन ।[1]

चतुर्थ आम चुनाव के बाद कांग्रेसी दल एवं विरोधी दलों के सदस्यों की संख्या लगभग सन्तुलित होने के कारण प्रत्येक विधायक की स्थिति इतनी महत्वपूर्ण हो गई कि वह अपने को मंत्रिमंडल की कुंजी समझने लगा, उदाहरणार्थ 1969 के मध्यावधि चुनाव के बाद चार सदस्यों द्वारा कांग्रेस छोड़कर विपक्ष में जा मिलने से उत्तर प्रदेश के चन्द्रभानु गुप्त की सरकार धराशायी हो सकती थी । इस संतुलित स्थिति के कारणदल-बदल के द्वारा वे अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करने लगे ।[2]

1- कोठारी रजनी, भारत में राजनीति पृ0 126

2- फिर वही,

स्वार्थ और पद लोलुपता की भावनायें मिली-जुली सरकारों की असफलता के कारण बने जोगुट अथवा व्यक्ति सरकार में पद पाने में असफल रहे वे दूसरी सरकार बनाने की तरकीबें सोचने लगते। राज्यों में संविद सरकारें उन राजनीतिज्ञों का तमाशा बन गयी जो सत्ता के भूखे थे और अनैतिक थे जिन्हे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के अलावा कुछ और नहीं दिखता था मंत्रिपद पाने वाले दल- बदलुओं के आंकड़े [1]।

भारत मे जो दल-बदलुओं के प्रति उदासीन दिखता है ये दल-बदल के बावजूद, भारतीय राजनीति मे नेताओं मालायें पहनायी जाती रही है। हरियाणा के चुनावों में 32% तक दल-बदले नेता चुनाव जीतते रहे है।

भारत में विभिन्न राजनीतिक दलों में विचारात्मक ध्रुवीकरण का अभाव दिखता है। कोई भी विधायक किसी भी दल में मिल जाए तो उसके सिद्धान्तों पर कोई खास असर नही दिखता। जिस आसानी से वे एक दल त्याग कर दूसरे दल में शामिल हो जाते है इससे एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि वे किसी राजनीतिक सिद्धान्त अथवा किसी दल की राजनीतिक विचारधारा को अधिक महत्व नहीं देते इसके साथ-साथ चूँकि विभिन्न दलों में कोई विचारात्मक ध्रुवीकरण नही है और उनके मतभेदो का स्वरूप धुंधला है अतः जब कोई व्यक्ति एक दल से सम्बन्ध-विच्छेद कर दूसरे किसी दल में मिल जाता है तो उनमें विचारधारा के परिवर्तन का कोई प्रश्न नही उठता। [2]

1- कोठारी रजनी- भारत में राजनीति पृ0 46

विशेष - दल-बदलुओं के आंकड़े परिशिष्ट में देखे।

2- डॉ0 कश्यप सुभाष -दल -बदल और राज्यों की राजनीति 1970 पृ0 44

दल-बदल के कारण जो भी संविद सरकारे बनी वो अपने मतभेदो के कारण दुर्बल सिद्ध हुई , दूसरे क्योंकि उनका अन्तिम उद्देश्य मात्र कांग्रेस को सरकार न बनाने देना ही रहा है । मंत्रिमण्डल बनाने के बाद उनमें किसी नीति पर समझौता नही हो पाता रहा है । इस मिली-जुली सरकारो के घटक सुपर कैबिनेट की तरह आचरण करती रहे हैंजिससे मुख्यमंत्री के पद का ह्रास होता रहा है एवं उसकी स्थिति मात्र एक कठपुतली की रही है ।[1] मुख्यमंत्री पद के ह्रास, मंत्रिमंडल के अनिश्चित भविष्य के कारण नौकरशाही के प्रभाव तथा दबाव मेंअप्रतिम बृद्धि हुई है ।[2]

दल-बदल रोकने के उपाय :

चतुर्थ आम चुनाव के बाद दल-बदल भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के लिए एक गंभीर चिन्ता का विषय बन गया । तत्कालीन गृहमंत्री की अध्यक्षता में भारत सरकार ने एक समिति नियुक्त की । इस समिति 18 फरवरी 1969 को संसद के सामने दल-बदल रोकने हेतु एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया । समिति सिफारशें इस प्रकार थी ।[3]

1- सभी राजनीतिक दल ऐसी व्यवहार संहिता को स्वीकार करे जिसमे लोकतांत्रिक संस्थाओं के मूल औचित्य और शालीनताओं का समावेश किया गया हो ऐसी व्यवहार

1- जौहरी जे. सी. - रिफ्लेक्सन आन इंडियन पालिटिक्स, 1974 पृ0 28

2- सी. पी. भाम्बरी- ब्यूरोक्रेसी एण्ड पालिटिक्स इन इंडिया 1973, पृ0 54

3- जौहरी जे.सी.- रिफ्लेक्सन आन इंडियन पालिटिक्स 1974

संहिता का पालन कराने के लिए समिति अथवा मण्डल का गठन किया जाय जिसमे विभिन्न राजनीतिक दलो के नेता और विधिक पृष्ठ भूमि वाले लोग हो ।

2- प्रतिनिधि को उस राजनीतिक दल से सम्बन्ध समझा जाना चाहिए जिसके तत्वाधान में उसने निर्वाचन जीता हो ।

3- ऐसे किसी भी व्यक्ति को जो निचले सदन का सदस्य न हो प्रधानमंत्री तथा मुख्यमंत्री न बनाया जाए ।

4- दल-बदल करने वाले विधायक को तब तक कोई सरकारी लाभ का पद न दिया जाए जब तक वह अपने स्थान से पद त्याग कर पुनः निर्वाचित नही हो जाता ।

5- अगर कोई दल राजनीतिक दल-बदल करने वाले विधायक को स्वीकार करता है तो उस दल को दी गयी मान्यता और उ स दल के लिए सुरक्षित किया गया चुनाव निशान कम से कम दो वर्षों के लिए वापस ले लिया जाना चाहिए ।

6- मंत्रिमण्डल सीमित आकार काहोना चाहिए ।

7- अगर कोई विधायक उस दल को छोड़ता हैजिससे चुनाव चिह्न पर चुना गया था तो वह संसद या राज्य विधान सभा का सदस्य रहने के अयोग्य होगा । चाहे तो वह दुबारा चुनाव लड़ सकता है।

चाह्वाण समिति के समक्ष रखे गये अन्य प्रस्तावो पर गहरा मतभेद हुआ । फिर भी 16मई 1973 को गृहमंत्री उमाशंकर दीक्षित ने दल-बदल को रोकने केलिए लोकसभा में एक विधेयक प्रस्तुत किया जिसे बत्तीसवा संविधान संशीधन विधेयक कहा जाता है, यह विधेयक पारित

न हो सका ।

मार्च 1977 में जनता पार्टी के सत्ता रूढ़ होने के बाद अनेक सदस्यों ने दल-बदल रोक विधेयक लाने पर बल दिया । 1978 के मध्य दल-बदल विधेयक पेश किया गया लेकिन सदस्यों के बीच मतभेद बढ़ने से ये विधेयक वापस ले लिया गया ।

26 सितम्बर 1979 को दल-बदल विरोधी विधेयक पारित जम्मू-काश्मीर विधान सभा ने पहल तो की लेकिन एक ओर इससे दल-बदल पर रोक तो लगती है लेकिन अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता भी इससे बाधित होती है । विधेयक की धारा (अ) के अनुसार कोई भी विधायक अगर अपनी पार्टी से इस्तीफा देता है तो उसकी विधान सभा सदस्यता समाप्त हो जाएगी । इस पर सभी सहमत थे । विवाद का मुद्दा धारा (ब) जिसके अनुसार यदि कोई विधायक अपने पार्टी सचेतक के विरूद्ध मतदान करता है या मतदान में भाग नही लेता तो उसकी सदस्यता समाप्त हो जाएगी । विपक्ष का कहना था कि इससे पार्टी मे किसी प्रकार के वैचारिक मतभेद के लिए जगह नही रहती । इससे केन्द्रीयकरण को बढावा मिलता है। धारा 19 का इससे उल्लंघन होता है।[1] इस दल-बदल कानून को उच्च न्यायालय में चुनौती दी गई उच्च न्यायालय के वैध स्वीकार करने के बाद सर्वोच्च न्यायालय मे चुनौती दी गई ।

भारत सरकार की संसद ने दल-बदल पर रोक लगाने के लिए 52वाँ संविधान संशोधन विधेयक (1985) सर्व सम्मति से पारित कर दिया इस एक्ट में निम्न प्रावधान किए गये है ।[2]

1- दिनमान - 14-20 अक्टूबर 1979 पृ0 2।

2- भारतीय संविधान ,एक्ट पृ0

1- (1) यदि वह स्वेच्छा से दल त्याग दे 2- यदि वह अपने दल या उसके द्वारा अधिकृत व्यक्ति के अनुमति के बिना सदन में उसके किसी निर्देश के प्रतिकूल मतदान करे या मतदान में अनुपस्थित रहे, यदि पन्द्रह दिन के अन्दर दल उसे इस उल्लंघन के लिए क्षमाकर दे तो उसकी सदस्यता पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा (3) यदि कोई निर्दलीय निर्वाचित सदस्य दल में शामिल हो जाए (4) यदि कोई मनोनीत सदस्य शपथ लेने के छह माह बाद किसी राजनैतिक दल में शामिल हो जाए । तो उसकीसदस्यता सदन से समाप्त समझी जाएगी ।

2- किसी राजनैतिक दल के विघटन पर सदस्यता समाप्त नहीं होगी । यदि मूल दल एक तिहाई सदस्य दल छोड़ दे ।

3- इसी प्रकार विलय की स्थिति में दल-बदल नही माना जाएगा । यदि किसी दल के कम से कम दो तिहाई सदस्य उसकी स्वीकृति दे दें ।

4- दल-बदल पर उठे किसी भी प्रश्न पर अन्तिम निर्णय सदन के अध्यक्ष का होगा ।

5- सदन के अध्यक्ष को इस विधेयक के कार्यान्वयन के लिए नियम बनाने का अधिकार होगा ।

दल-बदल के दो पहलू है एक नैतिक दूसरा वैधानिक । यह समस्या दिनो-दिन बढ़ती गयी क्योंकि राजनैतिक दल अपने नैतिक दायित्व को भूल गये । राजनैतिक दलो को आचरण संहिता तैयार करनी चाहिए । ऐसा राजनीतिक दलो ने क्यूँ नही किया ? क्यूँ कि इसमे

उनकी स्वार्थपरता छिपी थी । इस क्रिया से बनी संविद सरकारें भी इसी कारण सफल न हो सकीं । संयुक्त मोर्चा सरकारों के पतन के बीच उनके जन्म में ही विहित थे । दल-बदलुओं के कुनबे निर्मित सरकार अधिक दिनों नहीं चल सकती । इस प्रकार भारतीय राजनीति में मिली-जुली सरकारों का प्रयोग पूर्णतया असफल रहा ।[1] लार्ड ब्राइस का यह कथन सही लगता है कि संविद मंत्रिमंडलों की सरकार कमजोर होती है । जब सरकार को अपनी सुदृढ स्थिति पर भरोसा नहीं होगा तो विभिन्न घटकों से निर्मित मंत्रिमंडल प्रशासन की ओर क्या ध्यान देगा एवं कैसे जन कल्याण की योजनाओं का क्रियान्वयन कर सकेगी ?

1- गुप्ता, डी. सी. इंडियन गवर्नमेंट एंड पालिटिक्स पृ0 372

अध्याय - 5

जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद

अध्याय- 5

जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद

जातिवाद :

जाति प्रथा किसी न किसी रूप में संसार के हर कोने में पायी जाती हैं । जाति व्यवस्था की ठीक उत्पत्ति की खोज नहीं की जा सकी है । इस व्यवस्था का जन्म भारत में हुआ । ऐसा कहा जाता है कि भारत आर्य संस्कृति के अभिलेखों में उसका सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है तथा उन तत्वों का निरन्तर इतिहास भी मिलता है । जिससे जाति-व्यवस्था का निर्माण हुआ ।[1] ब्लंट ने जाति की परिभाषा देते हुए कहा कि जाति एक अन्र्तविवाही समूह या समूहों का संकलन है जिसका एक सामान्य नाम होता है जिसकी सदस्यता पैतृक होती है और जो अपने सदस्यों पर सामाजिक सहवास के संबंध में कुछ प्रतिबंध लगाती है । जो एक परम्परागत सामान्य पेशे को करती है या एक सामान्य उत्पत्ति का दावा करती है और सामान्यतया एक सजातीय समुदाय को बनाने वाली समझी जाती है ।[2]जाति व्यवस्था के अन्तर्गत समाज अनेक जातियों में विभक्त होता है । प्रत्येक जाति का अपना जीवन होता है जिसकी सदस्यता जन्म के आधार पर निर्धारित होती है व्यक्ति की परिस्थिति पर नहीं, अपितु उस जाति के परम्परागत महत्व पर निर्भर करती है । जिसमें उसे जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।[3]

1- सचदेव डी. आर- समाज शास्त्र के सिद्धान्त पृ0 367

2- ब्लंट ई. ए. एच, -सोशल सर्विस इन इंडिया पृ0 150

3- मैकाइवर आप सिट पृ0 124

प्रो0 घुरे ने लिखा है -" जाति भारत-आर्य संस्कृति का प्रामाणिक बच्चा है, जिसका पालन गंगा के मैदान में हुआ है जो वहाँ से भारत के दूसरे भागों में हस्तान्तरित किया गया ।[1] सामान्यतया यह माना जाता है कि इसकी उत्पत्ति वैदिक काल में हुई । ब्राम्हण धार्मिक और वैदिक कार्यों का सम्पादन करते थे । क्षत्रियों का कार्य देश की रक्षा और शासन प्रबंध करना था। वैश्य कृषि एवं वाणिज्य सम्भालते थे तथा शूद्रों को अब तीन वर्णो की चाकरी करनी पड़ती थी। शुरू-शुरू में जाति प्रथा के प्रबंध कठोर न थे, वह जन्मपर नही कर्म पर आधारित थे, बाद में जाति प्रथा में कठोरता आती गयी वह पूरी जन्म पर आधारित हो गई तथा एक जाति से दूसरी जाति में अन्तः क्रिया असम्भव हो गई ।[2] प्रो0 घुरे ने जाति व्यवस्था की छः विशेषतायें बतायी है ।[3]

§1§ भारत में जाति ऐसे समुदाय है जिनका अपना विकसित जीवन है और इसकी सदस्यता जन्म से ही निश्चित होती है।

§2§ भारत का प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति जानता है और जातियों के पद सोपान में ब्राम्हण सबसे ऊपर माना जाता है ।

§3§ जातियों के आधार पर खान-पान और सामाजिक आदान-प्रदान के प्रतिबंध लगे रहते हैं ।

§4§ गांवो तथा शहरो में जाति के आधार पर पृथकता बनी रहती है ।

1- घुरे जी, एस. - आप सोट पृ0 178

2- फिर वही, पृ0 265-66

§5§ कुछ जातियाँ कतिपय कुछ विशेष प्रकार के व्यवसायों को अपना पुश्तैनी अधिकार समझती है।

§6§ जातियों के ही परिधि में वैवाहिक आदान-प्रदान होता है और जातियाँ कई उप-जातियों में विभक्त होती है। उप जातियों में भी वैवाहिक परिसीमायें हैं ।

परम्परावादी भारतीय समाज में आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना भारतीय राजनीति की एक अद्भुत विशेषता है। भारत में राजनीतिक आधुनिकीकरण के प्रारम्भ होने के पश्चात् यह धारणा विकसित हुई कि पश्चिमी ढंग की राजनीतिक संस्थायें और लोकतंत्रात्मक मूल्यों को अपनाने के फलस्वरूप पारम्परिक संस्था-जातिवाद का अंन्त हो जाएगा किन्तु स्वाधीनता के बाद भारत की राजनीति में जाति का प्रभाव निरन्तर बढ़ता गया । वैसे राजनीति पर जातिगत प्रभाव , प्रतिनिधि व्यवस्था को लागू होने के समय से ही शुरू हो गया था, किन्तु यह प्रभाव नगण्य ही था । इसके लिए उत्तरदायी थे ब्रिटिश प्रशासन राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सीमित मताधिकार । स्वतंत्रता की प्राप्ति ने प्रथम दो का निराकरण कर दिया और नए संविधान मे अपनायी गयी व्यस्क मताधिकार व्यवस्था से तीसरे का । फलत: जातियों के प्रभाव क्षेत्र में आशातीत वृद्धि हो गयी आरम्भ मे तो उच्च एवं श्रेष्ठ जातियाँ राजनीति पर हावी रही और राजनीतिक लाभ उन्ही तक सीमित रहे । समय के साथ-साथ मध्यम एवं निम्न जातियाँ भी आगे आने लगी ।[1] और अपने राजनीतिक

1- सिन्हा, सुरजीत - कास्ट इन इंडिया :इट्स एसेन्शल पैर्ज ऑफ सोशायो कल्चरल इंटग्रेशन पृ0 44

प्रभाव को बढ़ाने में प्रयत्नशील रहने लगी । प्रो० रूडाल्फ के शब्दों में भारत के राजनीतिक लोकतंत्र के सन्दर्भ में जाति वह धुरी है जिसके माध्यम से नवीन मूल्यों और तरीकों की खोज की जा रही है । यथार्थ में यह ऐसा माध्यम बन गयी हैकि इसके जरिये भारतीय जनता को लोकतांत्रिक राजनीति की प्रक्रिया से जोड़ा जा सकता है ।[1]

प्रो० रजनी कोठारी का मत है कि अक्सर यह प्रश्न पूछा जाता है क्या भारत में जाति प्रथा खत्म हो रही है- इस प्रश्न के पीछे यह धारण है कि मानो जाति एवं राजनीति परस्पर विरोधी संस्थायें हैं, कोठारी- कोई भी सामाजिक तंत्र कभी पूर्णतया समाप्त नही हो सकता ,अत: यह प्रश्न अर्थ शून्य है ।[2] ज्यादा सही प्रश्न यह होगा कि जाति प्रथा पर राजनीति का क्या प्रभाव पड़ रहा है और जाति-पाति वाले समाज में राजनीति क्या रूप ले रही है ? जो लोग राजनीति में जाति की शिकायत करते हैं वे न तो राजनीति के प्रकृति को ठीक समझ पाए है और न जाति के स्वरूप को । भारत की जनता जातियों के आधार पर संगठित है और न चाहते हुए भी राजनीति को जाति संस्था का उपयोग करना ही पड़ेगा । अत: राजनीति में जातिवाद का अर्थ जाति का राजनीतिकरण है । जाति व्यवस्था आधुनिकीकरण और सामाजिक परिवर्तन में रूकावट नहीं डालती बल्कि इसको आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।[3]

1- रूडाल्फ एंड रूडाल्फ - द माडर्निटी आफ ट्रेडिसन द डेमोक्रेटिक इन कारनेशन आफ कास्ट इन इंडिया है ।

2- कोठारी रजनी- कास्ट इन इंडियन पालिटिक्स 1970 पृ० 4

3- कोठारी रजनी- पालिटिक्स इन इंडिया पृ० 41

राजनीतिक नेता सत्ता प्राप्त करने के लिए जातीय संगठन का उपयोग करते हैं और जातियों के रूप में उन्हें बना बनाया संगठन मिल जाता है जिससे राजनीतिक संगठन में आसानी होती है । स्थानीय और राज्य स्तर की राजनीति जातीय संगठन निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने में उसी प्रकार की भूमिका अदा करते है जैसे पश्चिमी देशों में दबाव-समूह ।[1]

जाति व्यवस्था और राजनीति में अन्त: क्रिया के संबंध में प्रो० रजनी कोठारी ने जाति प्रथा के तीन रूप प्रस्तुत किये है।[1]
1- लौकिक रूप 2- एकीकरण रूप 3- चैतन्य रूप ।

रजनी कोठारी ने जाति व्यवस्था के लौकिक रूप को व्यापक दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है । जाति व्यवस्था की कुछ बातों पर सबका ध्यान गया है जैसे जाति के अन्दर विवाह छुआछूत रीति- रिवाज के द्वारा जाति की पृथक इकाई को कायम रखने का प्रयत्न । लेकिन इस बात की ओर बहुत ही कम लोगों का ध्यान गया है कि जातियों में आपसी प्रतिद्वंदिता एवं गुट-बन्दी रहती है , प्रत्येक जाति प्रतिष्ठा और सत्ता की प्राप्ति के लिए संघर्षरत रहती है उदाहरणार्थ आजकल बिहार में ऊँची जातियो और पिछड़ी जातियों के बीच सत्ता संघर्ष चल रहा है। यही कारण है कि 1977 स 1980 के बीच दोनो ही मुख्यमंत्री अनुसूचित जातियों से आए एवं 1989 के बाद से लालू प्रसाद यादव (पिछड़ी जाति से)है ।

1- ग्रैनिवल आस्टिन - द इंडियन कॉन्स्टिट्यूशन -कार्नर स्टोन ऑफ ए नेशन (आक्सफोर्ड 1976) पृ० 47

2- कोठारी रजनी- पालिटिक्स इन इंडिया पृ० 155-58

जाति व्यवस्था के इस लौकिक पक्ष के दो रूप थे । एक शासकीय रूप यानी गाँव की पंचायत और चौधराहट दूसरा रूप राजनीति था यानि जाति की आन्तरिक गुटबन्दी और अन्य जातियों से गठ-जोड़ या प्रतिद्वन्दिता । इन संगठनों का प्रभाव इस बात पर निर्भर करता था कि स्थानीय नेताओं के समाज की केन्द्रस्थ सत्ता से किस प्रकार के संबंध थे । धर्म, व्यवसाय और प्रदेश के आधार पर इन जातियों की स्थिति बनती एवं बिगड़ती थी । पहले इन जातियों का संबंध जाति या गाँव की पंचायत और जमीदार से रहता था । देश की राजनीति पर किसी एक जाति का प्राधान्य नही हो सका क्योंकि कुछ स्थानों पर ब्राम्हणों का वर्चस्व था तो कुछ प्रदेशों में जैसे गुजरात और मारवाड़ में जैन, वैष्णव जैसे सम्प्रदायों के हाथ में आर्थिक शक्ति थी ।[1]

जाति का दूसरा रूप एकीकरण है अर्थात् व्यक्ति को समाज से बांधने का है । जाति प्रथा जन्म के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का समाज में स्थान नियत कर देती है जाति के आधार पर ही उस व्यक्ति का व्यवसाय और आर्थिक भूमिका निश्चित हो जाती है। चाहे कितना ही बड़ा व्यक्ति क्यों न हो उसका अपने समाज से लगाव पैदा हो जाता है । जाति के प्रति उसकी निष्ठा बढ़ने लगती है। यही निष्ठा आगे चलकर बड़ी निष्ठाओं अर्थात् लोकतंत्र एवं राजनीतिक व्यवस्था के प्रति भी विकसित हो सकती है। इस प्रकार जातियाँ जोड़ने वाली कड़िया बन जाती है। लोकतंत्र के अन्दर विभिन्न समूहों में शक्ति के लिए प्रतिद्वंद्विता होती है और विभिन्न जातियाँ आपस में मिल जुलकर गठ जोड़ बनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ताकि वे सत्ता का लाभ

1- राव के एन, रीजनल एंड कास्ट फैक्टर्स इन इंडियाज डेवलपमेंट 1967 पृ0 16 से 18

प्राप्त कर सकें ।[1]

जाति व्यवस्था का तीसरा रूप चेतना बोध है। कुछ जातियाँ अपने को उच्च समझती है । इस कारण समाज में उनको विशेष प्रतिष्ठा होती है । जैसे क्षेत्रीय एवं ब्राम्हण इस कारण समाज में निम्न जातियाँ अपने को अपने साथ जोड़ने को कोशिश करती हैं ।

प्रो० रजनी कोठारी ने जाति के राजनीतिकरण को चर्चा करते हुए कहा है कि इससे पुराना समाज नयी राजनीतिक व्यवस्था के करीब आया है। इसमें सबसे पहले शक्ति एवं प्रभाव की प्रतिस्पर्धा ऊँची जातियों तक सीमित रही । जिन जातियों ने उच्च शिक्षा प्राप्त करके आधुनिक बनने का प्रयत्न किया वे प्रतिष्ठित जातियों के समक्ष आने लगी । इन जातियों ने अधिकार और पद प्राप्त करने के लिए अपना राजनीतिक संगठन बनाया जिससे दो ऊँची जातियों में प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वन्दता बढ़ने लगी । मद्रास और महाराष्ट्र में ब्राम्हण अब्राम्हण , राजस्थान में राजपूत, जाट, गुजरात में बनियाँ ब्राम्हण पाटीदार, आंध्र प्रदेश में कम्मा रेड्डी और केरल में इजवा नायर द्वन्द्व इसके उदाहरण है।[2]

जाति के राजनीतिकरण के दूसरे चरण में भिन्न- भिन्न जातियों की प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ जाति के अन्दर भी प्रतिस्पर्धी गुट बने गये । प्रतिद्वन्दी नेताओं के पीछे गुट बन गये । इन गुटो में विभिन्न जातियों के लोग है। अपना गुट मजबूत करने के लिए उन जातियों की सहायता ली जाती है । जो अब तक दायरे से बाहर रहती है। चुनाव में समर्थन प्राप्त करने के लिए नीची जातियों के प्रमुख

1- फिर वही,

लोगों को छोटे राजनीतिक पद और लाभ में कुछ हिस्सा देकर प्रतिस्पर्धी नेता अपना गुट मजबूत करने की कोशिश करते हैं । जहाँ इस प्रकार मुखियों को इनाम देकर इन जातियों का समर्थन प्राप्त करना सम्भव नहीं होता । वहाँ इनमें प्रतिस्पर्धा पैदा करके, बिचवइयों के माध्यम से समझौता करने की कोशिश की जाती रही है और इस प्रकार की राजनीति भारत में स्वतंत्रता के उपरान्त देखने को मिलती है ।

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका -

जाति व्यवस्था भारतीय समाज का परम्परागत पक्ष है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद संविधान और राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण से आधुनिक प्रभावों ने भारतीय समाज में धीरे-धीरे प्रवेश करना आरम्भ कर दिया। आधुनिक प्रभावों के फलस्वरूप व्यस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन प्रारम्भ हुए और जातिगत संस्थायें यकायक महत्वपूर्ण बन गयी, क्योंकि उनके पास भारी संख्या में मत थे और लोकतंत्र में सत्ता प्राप्ति हेतु इन मतों का मूल्य था । जिन्हें सत्ता की आकांक्षा थी उन्हें सामान्य जनता को अपने पक्ष में मिलाने के लिए यह भी जरूरी था कि उनसे उस भाषा में बात की जाय, जो उनकी समझ में आ सके । जाति व्यवस्था इस बात को प्रकट करती थी इस कारण राजनीति में जाति अधिकाधिक महत्वपूर्ण होती गई । जय प्रकाश नारायण ने एक बार कहा था कि जाति भारत में अत्यधिक महत्वपूर्ण दल है अर्थात् यदि मनुष्य राजनीति की दुनिया में ऊँचा उठना चाहता है तो उसे अपने साथ अपनी जाति को लेकर चलना

1- फिर वही, पृ0 16

होगा । भारत में राजनीतिज्ञ जातीय समुदायों को इसलिए संगठित करते है ताकि उनके समर्थन में उन्हे सत्ता तक पहुँचने में सहायता मिल सके । क्योंकि जातियाँ ही संगठित होकर प्रत्यक्ष रूप से राजनीति में भाग लेती है और बाद में राजनीतिक शक्तियाँ बन जाती है । भारतीय राजनीति में जाति की निम्न भूमिकाओ स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

§1§ निर्णय प्रक्रिया में जाति की प्रभावक भूमिका :

भारत में जातियाँ संगठित होकर राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करती रही है, राजनीतिक दल इनको अनदेखा नहीं कर पाते , क्योंकि इन्ही संगठनो की बदौलत की सत्ता में रह सकते हैं ।

उदाहरणार्थ , भारतीय संविधान में अनुसूचित जातियों और जन जातियों के लिए आरक्षण का प्रावधान रखा गया है, अन्य जातियाँ चाहती है कि ये आरक्षण समाप्त कर दिया जाय अथवा इसका आधार सामाजिक आर्थिक स्थिति हो ताकि वे इनके लाभ से वंचित न रह जाए, लेकिन इनके संगठनात्मक दबाव के कारण तथा राजनीतिक अपने स्वार्थ वश इसको समाप्त नही करते बल्कि उत्तरोत्तर बढ़ाते जा रहे हैं । 1989 कि चुनाव से पहेले सत्ता धारी पार्टी काँग्रेस ने अनुसूचित जाति एवं जनजातियों के आरक्षण प्रावधान को आगे बढ़ाये जाने को जोर देकर कहा । 1989 में जनता दल की सरकार बनने के बाद प्रधान मंत्री कार्यालय में एक विशेष सेल के जातियों के प्रतिशत के बारे में लगातार अध्ययन करता रहा है [1] । गुजरात में §1985§

1- अर्थशास्त्री -अगस्त 91, पृ0 16

विधान सभा चुनाव के पूर्व सोलंकी ने पिछड़ों के लिए 18% आरक्षण की घोषणा की एवं अंतत: 1991 के मध्यावधि चुनाव के पूर्व विश्वनाथ प्रताप सिंह ने राजनीतिक स्वार्थवश (डी.बी.सी. (दूसरे पिछड़े वर्गों (जो कि कुल भारतीय जनसंख्या के 43.7% है (के लिए केन्द्रीय सरकार की नौकरियों में 27% आरक्षण की व्यवस्था लागू करने की घोषणा की । जिससे कि पूरे देश में जातिवादी कट्टरता भड़क उठी एवं भारतीय समाज उच्च वर्ग एवं पिछड़े वर्गों में बंट गया एवं जिसके कारण सारे देश में दंगे हुए ।[2]

भारत में राजनीतिक दल अपने प्रत्याशियों का चयन करते समय जातिगत आधार पर निर्णय लेते है। प्रत्येक दल किसीभी चुनाव क्षेत्र में प्रत्याशी मनोनीत करते समय जातिगत गणित का अवश्य विश्लेषण कर लेते रहे है । 1971 के आम चुनाव में कांग्रेस ने हरिजन + मुसलमान + ब्राम्हण शक्ति पुंज बनाकर ही चुनाव जीता था ।

जनवरी 1980 के सातवें लोकसभा चुनाव में कांग्रेस(आई) को विजय प्राप्त होने का कारण है कि श्रीमती गांधी हरिजनों ब्राम्हणो और मुसलमानो का जातीय समर्थन जुटाने में सफल हो गई । कांग्रेस सहित सभी राजनीतिक दलों में जातीय आधार पर अनेक गुट पाए जाते हैं ।कुछ राजनीतिक दल तो मुख्यत: जातियों के आधार पर बने । लोकदल का मुख्य आधार हिन्दी प्रदेश के मध्यम और पिछड़ी जातियों जैसे अहीर, गूजर, जाट, ठाकुर, यादव, कुर्मी थे । इसके

1- इन फैक्ट मिसेज गांधी सक्सीडेड इन बिल्डिंग आफ इलेक्टोरल कोपलिशन ह्वीच ब्राट हर टू पावर इन 1971 - फ्रांडिया बी. एल. प्रेसर गुप्स इन इंडियन पालिटिक्स -1980

अलावा जातियों पर आधारित पार्टीया भी बनी जैसे हरिजन संघर्ष समिति किसान मजदूर पार्टी इत्यादि ।

§3§ जातिगत आधार पर मतदान व्यवहार -

भारत में चुनाव अभियान में जातिवाद को साधन के रूप में अपनाया जाता है और प्रत्याशी जिस चुनाव क्षेत्र से चुनाव लड़ रहा है उस निर्वाचन क्षेत्र में जातिवाद की भावना को प्राय: उकसाया जाता है ताकि सम्बन्धित प्रत्याशी को जाति के मतदाताओं का पूर्ण समर्थन प्राप्त किया जा सके । जनवरी 1980 के चुनाव में उत्तर प्रदेश और बिहार के कुछ हिस्सों में लोकदल की सफलता पिछड़ी जातियों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं का प्रतीक है। उत्तर प्रदेश के चुनावों में चरण सिंह की सफलता सदैव ही जाट जाति के मतों के एक जुटता पर निर्भर रही । केरल के चुनावों में साम्यवादी दलों ने वोट जुटाने के लिए सदैव जाति का सहारा लिया । लालू प्रसाद यादव की सरकार पिछड़े वर्गों के संगठन का ही नतीजा है। [2]

राजनीतिक जीवन जातीयता का सिद्धान्त इस हद तक धँस गया है कि राज्यों के मंत्रिमंडल में प्रत्येक प्रमुख जाति का मंत्री होना चाहिए । यह सिद्धान्त प्रान्तों की राजधानियों से ग्राम पंचायतों तक स्वीकृत हो गया कि प्रत्येक स्तर पर प्रधान जाति के प्रतिनिधित्व मिलना ही चाहिए । राज्य स्तर से लेकर केन्द्रीय मंत्रिमंडल मे भी हरिजनों जन जातियों सिक्खों, मुसलमानों, ब्राम्हणों,

---

1- नवभारत टाइम्स- 17 जुलाई 85 पृ० 6

2- फिर वही,

जाटो, राजपूतों और कायस्थो को किसी न किसी रूप में स्थान अवश्य दिया जाता है ।

§4§ जातिगत दबाव समूह :

मेयर के अनुसार जातीय संगठन राजनीतिक महत्व के दबाव समूह के रूप में प्रवृत हैं । जातिगत दबाव समूह अपने न्यस्त स्वार्थों एवं हितों की पूर्ति के लिए नीति निर्माताओं को जिस ढंग से प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं उससे तो उसकी तुलना यूरोप एवं अमेरिका में पाये जाने वाले ऐच्छिक समुदायों से की जा सकती है ।[1]

अनेक जातीय संगठन और समुदाय जैसे तमिलनाडु में नाडार जाति संघ गुजरात में क्षत्रिय महासभा, बिहार में कायस्थ सभा आदि राजनीतिक मामलों में रूचि लेने लगते है और अपने-अपने संगठित बल के आधार पर राजनीतिक सौदेबाजी भी करते हैं । यद्यपि देश की प्रमुख जातियों को इस प्रकार पूर्णतया संगठित नहीं किया जा सकता है। मगर जो जातियाँ इस प्रकार संगठित नही रही वे राजनीतिक सौदेबाजी में सफल नही रही और उनके सदस्यों को अपनी आवाज उठाने के लिए उपद्रव और तोड़-फोड़ का सहारा लेना पड़ा ।[2]

राज्य राजनीति में जाति :

माइकेल ब्रेचर के अनुसार अखिल भारतीय राजनीति की अपेक्षा राज्य स्तर की राजनीति पर जातिवाद का प्रभाव अधिक है । यद्यपि किसी भी राज्य की राजनीति जातिगत प्रभावो से अछूती नही रही है फिर भी

1- जौहरी जे.सी. - रिफ्लेक्सन आन इंडियन पालिटिक्स पृ0 73

2- फिर वही,

बिहार ,केरल , तमिलनाडु आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, हरियाणा, महाराष्ट्र एवं राजस्थान राज्यों की राजनीति का अध्ययन बिना जातिगत गणित के विश्लेषण के कर ही नही सकते । बिहार की राजनीत में राजपूत,ब्राम्हण कायस्थ, यादव और जन जाति प्रमुख प्रतिस्पर्द्धी जातियाँ है। पृथक झारखण्ड राज्य की मांग वस्तुत: एक जातीय मांग ही है। केरल में साम्यवादियों की सफलता का राय यही है कि उन्होंने इजवाहा" जाति को अपने पीछे संगठित कर लिया । आंध प्रदेश की राजनीति काम्मा और रेड्डी जातियों के संघर्ष की कहानी है। काम्माओं ने साम्यवादी दल का समर्थन किया तो रेड्डी जाति ने कांग्रेस दल का । महाराष्ट्र की राजनीति में मराठो, ब्राम्हणो और महरो में प्रतिस्पर्धा रही है ।[1] गुजरात की राजनीति में दो ही जातियाँ प्रभावी है , पाटीदार और क्षत्रिय । केरल की राजनीति अपने तीन समुदायों के ईद -गिर्द घूमती रही है ।-हिन्दू, क्रिश्चियन एवं मुसलमान । केरल की राजनीति में अंतिम दो प्रमुख राजनीतिक शक्तियों के रूप में सक्रिय है । वैसे तो वहाँ सभी प्रकार के राजनीतिक दल है किन्तु उन्हें ध्यान पूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि वे सब जातीय संगठन है। मुस्लिम लीग मुसलमानो की है।दोनो केरल कांग्रेस के अधिसंख्य सदस्य ईसाई है रा.प्र. में नायर लोगों की संख्या है। कांग्रेस (इ) और साम्यवादी दलों में एजवा जाति के अलावा हिन्दुओं के कुछ प्रमुख वर्गो का प्रभाव देखा जा सकता है । राजस्थान की राजनीति के जाट-राजपूत जातियों की प्रतिस्पर्धा प्रमुख रही है। राज्यों की राजनीति में जाति के प्रभाव को देखते हुए टिंकर ने राज्यों की राजनीति को जातियों की

1- जौहरी जे.सी. - रिफ्लेक्सन आन इंडिया पालिटिक्स
पृ0 102

2- फिर वही,

राजनीति को संज्ञा दे डाली है ।[1] हाल के दशक में उत्तर प्रदेश में राजनीतिक पार्टियों में जातीय ध्रुवीकरण होने से यादव, जाट, लोधी पिछड़े वर्गों का समर्थन चौधरी चरण सिंह को 1970, 1974, 1977, 1980, 1984 तक मिला तथा उत्तर प्रदेश के राजनीति में इन जातियों का खासा वर्चस्व बना हुआ है। एवं ये सशक्त भूमिका निभाते रहे हैं ।

वास्तव में यह निश्चित करना कठिन है कि जातियों को राजनीति विभाजित करती है अथवा एकता के सूत्र में बाँधती है । क्योंकि भारत में ये दोनो बाते सही दिखाई देती है। एडाल्फ एवं रूडाल्फ लेखकों का मत है कि भारत की जाति व्यवस्था ने राजनीतिक जागृति और विभिन्न जातियों के राजनीतिकरण मे सहयोग दिया है और इस अर्थों में जाति व्यवस्था अभिशाप होने के बजाय वरदान सिद्ध हुई हैं ।[2]

जाति ने भारतीय संस्कृति के विकास में सकारात्मक भूमिका निभाई है । रूडाल्फ द्वय के अनुसार जातीय संघ संचार सरणियाँ तथा नेतृत्व संगठन का आधार प्रस्तुत करते हैं । जो परम्परागत समाज में अब तक डूबे लोगो को तकनीकी राजनीतिक निरक्षरता से उबारते है जो कि अन्यथा लोकतांत्रिक राजनीति में भागीदारी की उनकी क्षमता को प्रभावित करती है प्रति योगी राजनीति के वातावरण में विभिन्न जातियाँ समानता तथा सहयोग को अपनाकर एकीकरण की महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जातीय भावना तथा हित पर आधारित ,अधिजाति राजनीतिक, सत्ता, सामाजिक स्थिति तथा आर्थिक हितों की प्राप्ति के लिए एक संरचना प्रस्तुत करती है

1- स्टेट पालिटिक्स वील वी ए कास्ट पालिटिक्स थ्रु आउट मोस्ट आफ इंडिया फार मेनी इयर्स टू कम - टिंकर

2- रूडाल्फ एंड रूडाल्फ -माडीनेटी आफ ट्रेडिसन पृ0 9

जो प्रतिनिधिक जनतंत्र तथा धर्म निरपेक्षता को सामान्य भारतीयों के लिए सहज एवं साध्य बनाते हैं ।[1]

किन्तु एक सामाजिक खतरे के रूप में भी जाति का आकलन जरूरी है रूडाल्फ द्वय के विचार कि जातिवाद से राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में सहायता मिली है सत्य नहीं है । वास्तविकता है कि इससे जातिवाद की भावना को प्रबलता मिली है । जातीय भेदभाव पर आधारित राजनीतिक गतिविधियाँ वास्तव में देश के राजनीतिक आधुनिकीकरण के लिए घातक और राष्ट्रीय एकीकरण में बाधक सिद्ध हुई है। जातीय जागरूकता ने एक ओर विभिन्न जाति समूहों को एकता के सूत्र में बाँधी उनमे जागरूकता उत्पन्न की तो दूसरी ओर सम्पूर्ण समाज को और भी छोटे-छोटे समूहों में विभाजित कर दिया । इसने विवेक पर आधारित वैयक्तिकता, तर्क संगतता उपलब्धि अभिमुखी स्तर से इंकार कर समानता और सामाजिक न्याय की अवधारणा को पूर्णतया नष्ट कर दिया वंश तथा रक्त सम्बन्धों को समाज और राष्ट्र से ज्यादा प्राथमिकता देकर राजनीतिक आधुनिकीकरण एवं राष्ट्रीय एकता में बाधा उत्पन्न कर रही है । लौकिकीकृत होने के बजाय जाति ने समाज ने बहुतेरे तनावों को बढाया है तथा सत्ता से वंचित समूहों की शिकायत में वृद्धि की है । उच्च जातियाँ समानता को स्वीकार करके भी मौका पाते ही पुरानीप्रतिष्ठा की याद में पक्षपात करती है तो अब तक कुचली गयी जातियाँ बदले की भावना से प्रेरित हैं । जातिय एवं वर्गीय भावना सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था को ध्वस्त कर सकती है । विशेषत: समानता एवं सामाजिक न्याय की हमारी उपलब्धियों को । एम एन श्री-निवास काकहना है कि परंपरावादी जाति व्यवस्था ने प्रगतिशील और

1- रूडाल्फ एवं रूडाल्फ दि माडर्निटी ऑफ ट्रेडीशन, 1969, पृ0 11

2- फिर वही,

आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था को इस तरह प्रभावित किया है कि ये राजनीतिक संस्थाये अपने मूल रूप में कार्य करने में समर्थ नही रही है । डी.आर. गाडगिल ने भी जातिवाद को राष्ट्रीय एकीकरण के लिए हानिकारक मानते हुए यह कहा है कि क्षेत्रीय दबावो से वही अधिक खतरनाक बात यह है कि वर्तमान काल में जाति व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बांधने में बाधक सिद्ध हुई है ।[1]

भविष्य में जातिवाद का भारतीय राजनीति में क्या स्वरूप होगा और भारतीय राजनीति कहाँ तक अपने को जाति के प्रभाव से मुक्त रख सकेगी । यह तो समय ही बताएगा ।

संप्रदायवाद :

धर्म की अवधारणा -

धर्म रस है, चेतना स्पंदित है, वही धर्म का स्थान है। व्यक्ति समाज और सत्ता के मूलहेतु वही से संपादित होता है जहाँ अंतस्थल में धर्म का दीप आलोकित है ।[2] धर्म यह धुरी है जहाँ से विकास का पहिया मानव कल्याण की यात्रा के लिए गति पाता है। इसके बिना पहिया सिर्फ घूमता प्रतीत होता है।

चाणक्य ने धर्म और राजनीति को भाई-भाई की संज्ञा देते हुए कहा है कि धर्म को सुखो का मूल और राजनीति को संचालक शक्ति है ।[3]

1- फिर वही,

2- राष्ट्रीय सहारा, जुलाई 93 पृ0 6

3- कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ।

एक-राज्य धर्म विरोधी हो, उनकी अपनी विचारधारा हो तथा यह उसी पर आचरण करे । दूसरा- राज्य धर्मों की ओर उदासीन हो किसी धर्म को संरक्षण न दे । लेकिन भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्षता से तात्पर्य धर्म विरोधी , धर्म रहित अथवा अनीश्वरवादी नही है इसका अर्थ है राजनीतिक मामलों में धर्म के प्रभाव से मुक्त होना, राज्य का धार्मिक क्षेत्र में तटस्थ होना और किसी धर्म विशेष के साथ कोई पक्षपात न करना । डोनाल्ड यूजीन स्मिथ के अनुसार धर्म निरपेक्ष राज्य से तात्पर्य ऐसे राज्य से है जो व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से धार्मिक स्वतंत्रता की गारंटी देता है - संवैधानिक रूप से किसी धर्म विशेष से न तो सम्बन्धित है न ही वह किसी धर्म को बढ़ावा देता है अथवा उसमे हस्तक्षेप करता है।[1]

भारत में लोकतंत्र की स्थापना करते समय धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त को अपनाने का मुख्य कारण, धार्मिक अल्पसंख्यकों के हित की रक्षा ही थी,जो आदर्श रखकर किया गया है । भारतीय संस्कृति का मूलमंत्र ही धर्म रहा है, उनका सम्पूर्ण जीवन धर्म से ओत प्रोत रहा है। महर्षि वेद व्यास ने महाभारत में लिखा है कि धर्म से अर्थ की प्राप्ति होती है, धर्म से काम की प्राप्ति होती है, फिर ऐसे धर्म का सेवन क्यो न किया जाए ? " पाकिस्तान निर्माण के बाद भारत में ।। करोड़ मुसलमानो के अलावा सिख, पारसी, जैन, बौद्ध आदि अन्य अल्पसंख्यक धर्मावलम्बी हैं। अत: भारत में धर्म निरपेक्ष राज्य की नींव डाली गयी ।[2] डोनाल्ड यूजीन स्मिथ के अनुसार- चूंकि भारत में अनेक सम्प्रदाय और मत मतान्तर है, इसलिए भारत में राज्य द्वारा किसी विशेष धर्म को मान्यता देना अच्छा नही समझा गया ।

1- नवभारत टाइम्स- सम्पादकीय 24 जुलाई 92 पृ06

2- फिर वही,

भारतीय गणतंत्रीय संविधान में स्वतंत्रता आन्दोलन के आदर्शों और बहुत से देशों की अच्छी बातों को शामिल किया गया है । इसमे सभी तरह के अल्प संख्यकों - धार्मिक भाषायी और सांस्कृतिक आदि की अनेक तरह से रक्षा की व्यवस्था की गयी है। अनुच्छेद 25 के अनुसार अन्त:करण की स्वतंत्रता तथा किसी भी धर्म को मानने, उस पर आचरण करने और धार्मिक प्रचार करने की स्वतंत्रता की गारण्टी देता है। अनु 26 में धार्मिक मामलों का प्रबन्ध बिना किसी प्रकार के हस्तक्षेप के साथ करने की गारण्टी दी गयी है । अनु 27 में किसी विशेष धर्म की उन्नति प्रचार प्रसार के लिए करों की वसूली पर प्रतिबंध लगाया गया है और अनुच्छेद 28 में सरकारी धन से चलने वाली शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा न देने की गारण्टी दी गई है और धार्मिक उपासना में उपस्थित न होने की छूट दी गई है। संस्कृति तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकारों के अन्तर्गत अनुच्छेद 29 में अल्पसंख्यकों के हितों को संरक्षण दिया गया है और अनुच्छेद 30 में अल्प संख्यकों को अपने पसन्द की शिक्षण संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन करन का अधिकार दिया गया है ।[1]

भारतीय संविधान के धार्मिक स्वतंत्रता सम्बन्धी ये उपबंध धर्म निरपेक्ष अथवा असाम्प्रदायिक राज्य की आधारशिला है। डॉ0 सुभाष कश्यप लिखते है " भारत जैसे देश में जहाँ अनेक धर्म जन्मे और आज भी फलो-फूल रहे है, धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त विशेष महत्व रखता है ।[1]

भारत में सरकार भारतीय संविधान में उल्लेखित अल्पसंख्यकों के हितों के प्रति पूर्ण रूप से बचन बद्ध है ।

1- डॉ0 कश्यप सुभाष - संविधानिक विकास और स्वाधीनता संघर्ष ((रिसर्च 1971)) पृ0 340

साम्प्रदायिकता :

साम्प्रदायिकता के अन्तर्गत वे सभी भावनाएँ व क्रिया-कलाप आ जाते है जिसमें किसी धर्म अथवा भाषा के आधार पर किसी समूह विशेष के हितों पर बल दिया जाता है तथा उन हितों को राष्ट्रीय हितों के ऊपर प्राथमिकता दी जाती है तथा उस समूह में पृथकता की भावना उत्पन्न की जाती है तथा प्रोत्साहन किया जाता है। भारत में पारसियों, बौद्धों जैनो तथा ईसाइयों के अपने-अपने संगठन है साथ ही वे अपने सदस्यों के हितों की साधना में लिप्त रहते हैं, परन्तु ऐसे संगठनों को प्राय: साम्प्रदायिक नही कहा जाता है क्योंकि वे पृथकता की भावना से प्रेरित नही है। इसके विपरीत, मुस्लिम लीग, हिन्दु महासभा तथा अन्य कुछ संस्थाओं को साम्प्रदायिक कहा जाएगा क्योंकि धार्मिक अथवा भाषा समूहों के अधिकारी तथा हितों को राष्ट्रीय हितों के ऊपर रखते है। विसेंट स्मिथ " के शब्दों में एक साम्प्रदायिक व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह वह है जो कि प्रत्येक धार्मिक अथवा भाषायी समूह को एक ऐसी पृथक सामाजिक तथा राजनीतिक इकाई मानता है, जिसके हित अन्य समूहों से पृथक होते है और उनके विरोधी भी हो सकते है। ऐसे ही व्यक्तियों अथवा व्यक्ति समूह की विचार धारा को साम्प्रदायिकता या सम्प्रदायवाद कहा जाएगा। सामान्यत: सम्प्रदायवादी का दृष्टिकोण संकीर्ण होता है। साम्प्रदायिक समुदाय जानबूझकर धार्मिक सांस्कृतिक भेदों के आधार पर राजनीतिक मांगे रखने का निर्णय करता है तब सामुदायिक चेतना सम्प्रदाय के रूप में एक राजनीतिक सिद्धान्त बन जाती है। राजनीतिक स्वायत्तता को तब सांस्कृतिक स्वायत्ता सुरक्षित रखने की अनिवार्य शर्त घोषित कर दिया जाता है। बहुसंस्कृतिय समाज में सामाजिक तनाव तथा टकराव वास्तव में विभिन्न समूहों के बीच चल रहे सत्ता

द्वन्द्व के लक्षण है । इस पारस्परिक द्वन्द्व को सैद्धान्तिक स्तर पर धर्म को शिला पर खड़ा करना एक राजनीतिक विचारधारा के रूप में सम्प्रदायवाद का मूल सार है ।[1]

भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता का उदय :

मानव इतिहास में धर्म के नामपर सदैव विवाद उठते रहते हैं । धर्म की दृष्टि से भारत विशेष रूप से हतभाग्य रहा है स्वाधीनता आन्दोलन के समय अंग्रेजों ने भारत मे अपना शासन बनाए रखने के लिए धार्मिक भेद-भावों का विशेष लाभ उठाया । अंग्रेजी शासन काल में साम्प्रदायिक भावनाओं को राजनीतिक रूप मिलने का एक कारण यहाँ प्रतिनिधि या निर्वाचित संस्थाओं की स्थापना थी । अंग्रेज लोग प्रतिनिधित्व का अर्थ अलग-अलग समूहो, वर्गों, हितो, क्षेत्रो, संस्थाओं और सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व समझते थे । उन्होने भारत में अनेक सम्प्रदायों और जातियों की समस्या को अनेक स्वाभाविक अस्तित्व बोध और एक दूसरे की आपसी वैमनस्यता की समस्या समझा और उसका उपाय अलग-अलग धार्मिक समूहों को पृथक-पृथक प्रतिनिधित्व देने में समझा । भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या ब्रिटिश शासन के समकालीन है। अंग्रेजो में भारत मे फूट डालो और शासन करो " की नीति अपनायी ताकि वे हिन्दुओं और मुसलमानो को लड़ाते रहे और भारत पर अपनी हुकूमत चलाते रहे । अपनी इसी नीति के तहत 1905 में कर्जन ने बंगाल का विभाजन किया । भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक एवं अन्य अधिकारो की रक्षा के लिए 1906 में ढाका में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई । 1908 में लीग ने मुसलमानो को आबादी से अधिक स्थान दिए जाने की माँग की । 1909 में मार्ले मिन्टो सुधारों

1- दीक्षित प्रभा - सम्प्रदायिकता का ऐतिहासिक सन्दर्भ, मेकमिलन 1980 , भूमिका ।

में साम्प्रदायिक आधार पर पृथक चुनावों की व्यवस्था की गई । 1910 के लखनऊ पैक्ट के अन्तर्गत मुसलमानों के लिए प्रतिनिधित्व गुरूरता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया, जो एक दम गलत था ।[1] 1919 के एक्ट में साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को न केवल मुसलमानो के लिए किया गया । वरन सिक्खों यूरोपियनो और आंग्ल भारतीय समुदायों के लिए भी इसे अपना लिया गया । सन् 1928 के बाद जिन्ना साम्प्रदायिक राजनीति के खलनायक बन गये । सन् 1935 के अधिनियम द्वारा साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का विकास किया गया सन् 1940 में जिन्ना ने द्विराष्ट्र सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और अन्त में 1949 में साम्प्रदायिकता के आधार पर भारत का विभाजनहुआ । भारत की संविधान निर्मात्री सभा का शुरू मे गठन §1946§ प्रान्तों की विधान सभाओं के सदस्यों के साम्प्रदायिक समूहों द्वारा अप्रत्यक्ष रीति से हुआ ।[2]

साम्प्रदायिकता की समस्या के कारण :

स्वाधीनता से पूर्व अंग्रेजो ने फूट डालों एवं राज्यकरों की नीति अपनायी थी, लेकिन स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के पश्चात् की साम्प्रदायिकता भारत के लिए विशेष समस्या रही है स्वतंत्रता के बाद शुरू हुई चुनावों की राजनीति में धर्म एवं संप्रदाय के नकारात्मक महत्व को उभारा है।

ऐसा माना जाता रहा है कि देश में कुछ मुसलमानो में पृथक्करण की भावना आज भी विद्यमान है और वे अपने को आज भी राष्ट्रीय धारा में समाविष्ट नहीं कर पाये । कुछ मुस्लिम नताओं ने स्वाधीनता

1- एम. सत्या राय - भारत में राष्ट्रवाद पृ0 124

2- फिर वही,

के बाद इस बात का प्रचार किया कि उन्हें मुख्य राष्ट्रीय प्रवाह में शामिल होने के लिए ऐसे राजनीतिक दलों को सहयोग देना चाहिए जिसका विश्वास धर्म निरपेक्षता, समाजवाद तथा आर्थिक न्याय मे हो परन्तु इन विचारो का कोई खास प्रभाव नही पडा और कुछ मुस्लिम नेताओ ने इस बात का प्रचार किया कि मुस्लिम सम्प्रदाय के हितो के लिए उन्हें पृथक रूप से भाग लेना चाहिए ।[1] ऐसे ही एक दूसरे संगठन जमीयत उल-उलेमा-ए-हिन्द ने भी मुसलमानो को राष्ट्रीय राजनीति से पृथक रहने की सलाह दी । 1948 में मुस्लिम लीग ने पृथक निर्वाचन की मांग की । 1961 में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना की गई और यह प्रचार किया गया कि भारत में मुस्लिम लीग ही मुस्लिम हितों का संरक्षण कर सकती है । सन् 1971 के मध्यावधि चुनावो के समय नई दिल्ली में देश के अधिकांश भागों के मुस्लिम प्रतिनिधियों ने अखिल भारतीय राजनीतिक सम्मेलन आयोजित किया । इसके पीछे जमायत-ए- इस्लाम का हाथ था । इस प्रकार कुछ धर्मान्ध मुस्लिम संगठनो ने सम्प्रदायवाद का कभी उन्मूलन नही होने दिया ।

अंग्रेजी काल से ही मुसलमान आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए रहे हैं । स्वाधीनता के बाद भी उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ नहीं हो पायी । शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े होने के कारण सरकारी नौकरियों व्यापार एवं उद्योग धन्धों में उनकी स्थिति नही सुधर पाई । आज भी उनका आधु-निकीकरण नही हो पाया है इससे उसमें असंतोष बढ़ा एवं उनका मनोबल भी गिरा है। कभी-कभी यह असंतोष उग्र रूप ले लेता है और कभी-कभी यह असंतोष हिंसा का रूप ले लेता है।[2]

1- फिर वही,

2- राष्ट्रीय सहारा 18 जुलाई 93, पृ0 6

भारत के हिन्दु संप्रदाय में भी ऐसे लोग तथा गुट है जो धर्मान्धता तथा संकोर्ण भावनाओं से ओत-प्रोत है। हिन्दु महासभा तथा राष्ट्रीय सेवक संघ विश्व हिन्दु परिषद , शिव सेना, जैसे संगठनो ने हिन्दुओं को धार्मिक भावनाओं को बराबर उत्तेजित किया है। ये लोग यहाँ तक कहते रहे है कि भारत हिन्दुओं का देश है और हिन्दु धर्म के अनुयायियों को होइस देश में निवास करने का अधिकार है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ मुसलमानो का कट्टर विरोधी रहा है। इसके समर्थको का मत है कि भारतीय भारतीय राष्ट्रीयता का मत हिन्दुत्व हो हो सकता है। इस प्रकार को मनोवृत्ति सांप्रदायिकता उत्पन्न करती है ।

सरकार एवं प्रशासन की उदासीनता के कारण भी कभी-कभी साम्प्रदायिक दंगे हो जाते हैं । सामान्य सी घटना प्रशासन की असावधानी के कई बार साम्प्रदायिक दंगे का रूप ले लेती है।

स्वतंत्रता के बाद हुए साम्प्रदायिक उपद्रवों के अध्ययन से पता चलता है कि उनमें वृद्धि हो रही है किन्तु इस विषय में स्थिति विभिन्न क्षेत्रो एवं नगरो में भिन्न -भिन्न है। ऐसे नगर जिनमे बड़े साम्प्रदायिक उपद्रव हुए है दो प्रकार के है । एक प्रकार के वे नगर है जो औद्योगिक है जैसे जमसेदपुर, राउर केला, तथा दूसरे प्रकार जो उद्योग एवं व्यापार के आधुनिक केन्द्रों के रूप में विकसित होने का प्रयत्न कर रहे है- जैसे मुराबाद, अलीगढ़, बनारस ।[1]

साम्प्रदायिक घटनाओं के पीछे विरोधी हाथ होने का आरोप भी आजकल जोर-शोर से सुनाई दे रहा है मुस्लिम देशो और इस्लामी संगठनों को ओर से पिछले एक दशक से इस कार्य के लिए धनराशि प्राप्त होती रही है।[2] इस क्षेत्र के समृद्ध और सम्पन्न मुसलमानो ने जिनके

1- नायडू रत्ना- कामर्शियल एज आफ रूरल सोसाइटीज प0 139

खाड़ी के देशों और दक्षिण-पूर्व में स्थित मुस्लिम देशों के साथ सम्बन्ध है मुस्लिम संगठनों के प्रयासों को बढ़ावा दिया है ।[1]

इस प्रकार भय, अविश्वास और दोनों सम्प्रदायों के बीच सन्देह साम्प्रदायिक वैमनस्य का मुख्य कारण रहा है और जब सरकार समस्या के मूल कारणों के चर्चा के बजाय विदेशी धन, विदेशी हाथ करके सन्तुष्ट हो जाती है तो समस्या का भयावह रूप धारण कर लेना स्वाभाविक है ।[2]

सामयिक राजनीति में धर्म और राजनीतिक दल :

भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्वों में धर्म और साम्प्रदायिकता अत्यन्त प्रभावशाली तत्व है । धर्म का प्रयोग राजनीति में जहाँ एक ओर तनाव उत्पन्न करने के लिए किया जाता रहा है वही दूसरी ओर प्रभाव और शक्ति अर्जित करने का भी धर्म माध्यम बन गया है । जामा मस्जिद के शाही इमाम अब्दुला बुखारी और जय गुरूदेव की राजनीतिक शक्ति की आधार शिला अपने-अपने सम्प्र दायों अनुयायियों की संख्या बल है । धर्म के आधार पर राजनैतिक दलों का निर्माण होता है चुनावों में समर्थन एवं मत प्राप्त करने के लिए धर्म का सहारा लिया जाता है। जनता से की जाने वाली अपीलों उन्हें दिए जाने वाले आश्वासनों , निर्वाचनों में प्रत्याशियों के चयन तथा मतदान व्यवहार मे धर्म का राजनीतिक स्वरूप देखने को मिलता है। स्वतंत्रता के 47 वर्षों बाद भी हिन्दू और मुसलमानों के बीच सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकीकरण दिखाई नही पड़ता । वस्तुत: जिन सम्प्रदायों के बीच ऐसा एकीकरण

1- साम्प्रदायिक दंगों में विदेशी हाथ - कुलदीप नायर - राजस्थान पत्रिका ।

2- फिर वही,

विद्यमान था , उदाहरणार्थ हिन्दुओं और सिक्खो में वहाँ भी रूढ़िवाद एवं साम्प्रदायिकता के बढ़ते हुए विरोध का खतरा पैदा हो गया है । सम्प्रदाय के आधार पर आधारित राजनीतिक दल जैसे मुस्लिम लीग , शिरोमणि अकाली दल, राम राज्य परिषद हिन्दु महासभा आदि में साम्प्रदायिक तत्वो का वर्चस्व रहा है। यदि साम्प्रदायिकता एक रोग है तो वह भी संक्रामक[1] तो इन दलों के शासन और राजनीति पर प्रभाव सहज ही आँका जा सकता है । ये साम्प्रदायिक दल धर्म को राजनीति मे प्रधानता देते है, धर्म के आधार पर चुनावों में प्रत्याशियों का चुनाव करते हैं और सम्प्रदाय के आधार पर वोट माँगते हैं ।

प्रो. मारिस जोन्स ने लिखा है - यदि साम्प्रदायिकता को संकुचित अर्थ में लिया जाए अर्थात् कोई राजनीतिक पार्टी किसी विशेष धार्मिक समुदाय के राजनीतिक दावो की रक्षा केलिए बनी हो तो कुछ पार्टीयाँ ऐसी है जो स्पष्ट रूप से अपने को साम्प्रदायिक कहती है ,जैसे मुस्लिम लीग जो भारत में सिर्फ दक्षिण भारत में रह गयी है और जो मालाबार मोपला समुदाय के बल पर केवल केरल में ही शक्तिशाली है, सिक्खों की अकाली पार्टी तो सिर्फ पंजाब में है, हिन्दु महासभा तो सिद्धान्त रूप से अखिल भारतीय पार्टी है किन्तु मुख्य रूप से मध्य प्रदेश और उसके आस-पास के इलाकों में शक्तिशाली है ।[2] जनसंघ दल के बारे में मारिस जोन्स लिखते है " जब तक कट्टरता की मनोवृत्ति से पूर्ण आर, एस. एस. जिसमें हिन्दू सांस्कृतिक जोश और सैन्यवादी ट्रेनिंग दोनो का संयोग है, जनसंघ की आड़ में जुटकर काम करता रहेगा ,तब तक साम्प्रदायिकता इस पार्टी का महत्वपूर्ण पहलू बनी रहेगी ।[3]

1- रामधारी सिंह दिनकर ने इसे संक्रामक रोग कहा है
संस्कृत के चार अध्याय " पृ0 638

2- जोन्स मारिश - भारतीय शासन पद्धति {अनुवाद} पृ0 190

यदि साम्प्रदायिकता को व्यापक अर्थ में लिया जाए अर्थात् सम्पूर्ण हिन्दू समाज के ही भीतर किसी सामाजिक -धार्मिक समुदाय के साथ सम्बन्ध के रूप मे लिया जाए तो सभी पार्टियों में किसी न किसी स्तर पर कुछ न कुछ मात्रा में ऐसी साम्प्रदायिकता अवश्य मिलेगी यहाँ तक कि कांग्रेस भी इससे मुक्त नहीं है केरल में कांग्रेस का ईसाई समुदाय के साथ ऐसा गठजोड़ रहा है कि इसे संकुचित दृष्टि से भी साम्प्रदायिक कहा गया है। यहाँ तक कि साम्यवादियों ने भी कुछ जगहों पर कतिपय प्रयोजनों के लिए साम्प्रदायिक क्षेत्र तैयार कर लिए है ।[1]

अल्प संख्यक वोट की राजनीति -

भारत में अधिकांश राजनीतिक दल और उनके नेता चुनावों में धर्म और सम्प्रदाय के आधार वोट मांगते रहे है। वोट बटोरने के लिए मठाधीशों ,इमामो, पादरियों के साठ-गाँठ की जाती है।[2]

स्वतंत्रता के बाद कांग्रेस ने मुसलमानो में धर्म निरपेक्ष दल के रूप में अपनी छवि बनायी । धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के बावजूद भी कांग्रेस ने कुर्सी बनाए रखने के लिए मुस्लिम तुष्टि-करण की नीति को सीने से चिपकाए रखा। जिसके कारण 1955 में जनसंघ पार्टी का उदय हुआ । राष्ट्रीय सेवक संघ ने जनसंघ के राजनैतिक आधार को मजबूत किया एवं फैलाया । इन दोनो संगठनो से खतरा महसूस होने के कारण मुसलमानो मे यह भावना बलवती हुई कि केवल कांग्रेस ही उनकी रक्षक है। इससे मुस्लिम मतदाताओं ने चुनावों में उसे आँख बंद मे समर्थन दिया । 1952, 1957, 1967 तक के चुनावों में तत्कालीन

1- फिर वही,

2- नवभारत टाइम्स पृ0 743

सत्ताधारी कांग्रेस मुस्लिम समाज के अधिकांश वोट बटोरती रही । लेकिन 1967 के चौथे आम चुनाव में कांग्रेस को मुस्लिम मतदाताओं का समर्थन कम होने का झटका महसूस हुआ । साम्यवादी दलों के शुरू होते प्रभाव ने पढ़े-लिखे प्रगतिशील मुसलमानो को आकर्षित किया । मुस्लिम दलों और संगठनो ने क्षेत्रीय दलों के साथ समर्थन किया । कांग्रेस में आन्तरिक खींचतान, आर्थिक नीतियों की आंशिक असफलता तथा कानून एवं व्यवस्था में गिरावट आदि से आम जनता के साथ मुस्लिम मतदाताओं का भी कांग्रेस में विश्वास कम हुआ ।[1]

1968 में देश में 346 बार दंगे हुए, जबकि 1970 में साम्प्रदायिक दंगों की संख्या 521 थी ।[2] इन साम्प्रदायिक दंगों एवं राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का हौवा खड़ा करके श्रीमती इंदिरा गाँधी ने मुस्लिम अधिकारों का ठेका लेने की बागडोर बड़ी चतुराई से संभाली । जिसका परिणाम हुआ 1971 एवं 1972 के चुनावों में मुस्लिमों का कांग्रेस को समर्थन एवं कांग्रेस की अद्भुत विजय । 1975 में थोपे गये आपातकाल में जबरन नसबंदी के कार्यक्रम से मुस्लिम समाज का बहुत बड़ा हिस्सा कांग्रेस से एकदम नाराज हो गया । 1977 के चुनाव में दिल्ली जामा मस्जिद के शाही इमाम जैसेअनेक मुस्लिम नेताओं ने कांग्रेस के विरुद्ध नवगठित जनता पार्टी के पक्ष में खुल्लम खुल्ला प्रचार से मुस्लिम मतदाताओं की नाराजगी की आग में घी का काम किया । इस चुनाव में कांग्रेस की हार में मुस्लिम मतदाताओं की भूमिका महत्वपूर्ण रही ।

1- फिर वही,

2- फिर वही,

जनवरी 1980 के चुनाव में शाही इमाम की मांग थी कि लोक सभा, राज्य सभा तथा मंत्रिमंडल में मुसलमानों को बीस प्रतिशत प्रतिनिधित्व मिले व राज्यों मे वहाँ की जनसंख्या के अनुसार उन्हें प्रतिनिधित्व मिले। पुलिस एव सेना में उनके बीस प्रतिशत स्थान सुरक्षित रहे। मुसलमानों के वोट प्राप्त करने के लिए जनता पार्टी और कांग्रेस (आई) ने अपने-अपने चुनाव घोषणा पत्रों में अल्पसंख्यकों कई प्रावधान किए। कांग्रेस (इ) के चुनाव घोषणा पत्र में कहा गया (1) अल्प संख्यक आयोग को कांग्रेस मजबूत करेगी। (2) अलीगढ़ विश्वविद्यालय के मुस्लिम स्वरूप को सुनिश्चित किया जाएगा। (3) अल्प संख्यकों को विधि व्यवस्था तथा रक्षा कार्मिक सहित सभी सरकारी सेवाओं में नौकरी में उचित अवसर दिये जायेंगे (4) उर्दू को उसका उचित स्थान दिया जाएगा तथा खास-खास क्षेत्रों में सरकारी राज-काज के व्यवहार के लिए दूसरी भाषा के रूप में उर्दू को मान्यता दी जाएगी।[1]

1980 के लोक सभा चुनावों में जनता पार्टी के पराजय का एक कारण उसे अधिसंख्य मुस्लिम वोटो का न मिलना था। मुसलमानों की जनता पार्टी के प्रति नाराजगी का मुख्य कारण उसके शासन के दौरान अलीगढ़ विश्वविद्यालय को अल्पसंख्यक स्वरूप न प्रदान करना न उर्दू को संवैधानिक संरक्षण मिलना था। इसके साथ साम्प्रदायिक दंगे भी 1977 में 108 बार 1978 में 230 बार, 1979, 304 भी हुए जिसको रोक पाने में जनता पार्टी सरकार असफल रही।[2] ऐसी स्थिति में कांग्रेस (आई) लोकदल तथा समाजवादी गुट ने जनता पार्टी में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के वर्चस्व का हौवा खड़ा करके उसके मुस्लिम विरोधी होने की छवि बना दी।

1- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इ) चुनाव घोषणा पत्र, 1980

2- खान रशी उद्दीन -भारत में लोकतंत्र पृ0 212

1984 के चुनाव में एवं इसके पश्चात् के सभी चुनावों में प्रत्येक राजनैतिक पार्टियों ने वोटों की राजनीति के चलते अपने चुनाव घोषणा पत्रों में अल्पसंख्यकों के हितों के बारे में कहती रही है क्योंकि अल्पसंख्यक होने के नाते वे प्राय: बहुसंख्यक हिन्दू समाज के वर्चस्व के डर से एक जुट होकर मतदान करते हैं ।

मुस्लिम समाज में राजनीतिक नेताओं की अपेक्षा धार्मिक नेता ज्यादा प्रभावशाली होते है। इसीलिए चुनाव से पहले पार्टी के नेता इन धर्म के शुभचिंतक शाही इमामों से अपनी पार्टियों के पक्ष में मत दिलवाने की याचना करते है । 1984 के चुनाव से पूर्व विश्वनाथ प्रताप सिंह ने जामा मस्जिद के शाही इमाम अब्दुल्ला बुखारी से जनता दल के लिए याचना की । अब्दुल्ला बुखारी ने मुस्लिम समुदाय से जनता दल को वोट देने की बात कही, जिसका परिणाम था जनता दल कोबहुसंख्यक मुस्लिम वोट का मिलना। मुस्लिम शाही इमामों के इसरूख को देखकर किसी संवाददाता ने लिखा है कि " सवाल उठता है कि समाजवाद और गणतंत्र की बात करने वाले अगर इमाम के नाम से वोट पाना चाहेंगे तो हो सकता है कि बलराज मधोक जैसे लोग शंकराचार्य के नाम पर वोट मांगने लगे । फिर क्या इस देश को इमाम और शंकराचार्य के बीच चुनाव करना पड़ेगा।[1]

राज्यों की राजनीति में धर्म की प्रभावक भूमिका :

धर्म और धार्मिक समुदायों का केरल एवं पंजाब की राजनीति पर भरपूर प्रभाव देखने को मिलता है।

1- दिनमान 16-22 दिसम्बर, 1979, पृ0 19

केरल की राजनीति का ऊपरी आवरण भले ही वामपंथी रंग में रंगा हुआ नजर आए किन्तु अन्तरंग धार्मिक एवं साम्प्रदायिक गठजोड़ से बनता है ।[1]

राज्य राजनीति में दो प्रकार के दबाव समूह पाए जाते हैं साम्प्रदाय और व्यावसायिक । साम्प्रदायिक दबाव समूहों में से नयूयर सर्विस सोसायटी, श्री नारायण धर्म परिपालन युगम् और अनेक इसाई संगठन प्रमुख है प्रगतिशील समझे जाने वाले साम्यवादी दल भी केरल में धार्मिक दबाव गुटो से अपना तालमेल बिठाकर चुनावी रणनीति तैयार करते हैं ।

धर्म और राजनीति का सम्बन्ध पंजाब राज्य की राजनीति में विशिष्ट स्थान रखता है।[2] पंजाब की राजनीति सदा ही अकाली दलों की आन्तरिक राजनीति तथा सशक्त और शिरोमणि गुरूद्वारा प्रबंधक कमेटी के ईद-गिर्द घूमती रहती है । शिरामणि गुरूद्वारा प्रबंधक कमेटी के चुनाव प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अकाली दल की राजनीति को प्रभावित करते है, और अकाली दल पंजाब की राजनीति को । सिक्ख जाति के सर्वोच्च धार्मिक नेताओं द्वारा अकाल तख्त से जारी किए गए फरमान ने अकाली दल के प्रधान का चुनाव रोक दिया।[3] स्वर्ण मन्दिर के सामने अकाल तख्त की स्थापना गुरू गोविंद सिंह ने एक राजनीतिक शक्ति के रूप में की थी । पंजाब की राजनीति में अकाल तख्त का स्वरूप एवं भूमिका

1- द पालिटिक्स आफ केरला, सेंटर्स राउंड इट्स थ्री कम्यूनिटीज एंड देअर इंटर कास्ट एलाइमेंट - नारायण इकबाल - स्टेट पालिटिक्स पृ0 258-59

2- आनन्द जे.सी. - पंजाब पालिटिक्स -सर्वे ।

3- दिनमान 25-31 मार्च, 1979 पृ0 22

एक समानांतर सरकार की है जिस पर समकालीन सरकार के आदेश लागू नही होते धार्मिक विवादो के साथ-साथ राजनैतिक विवादो का फैसला अकाल तख्त ,अनेकोबार करता रहा है ।

सन् 1979 में अकाली दल विभाजित सा था इस बात को लेकर मतभेद था कि केन्द्र में चरण सिंह गुट (जनता एस) को समर्थन दिया जाए या जनता पार्टी को । मुख्यमंत्री प्रकाश सिंह बादल और अकाली दल के अध्यक्ष जगदेव सिंह तलवण्डी एक - दूसरे के विरोधी नजर आ रहे थे । अकाल तख्त के पंज प्यारो ने अकाली दल के तत्कालीन अध्यक्ष तलवण्डी को यह सजा सुनाई कि वह एक सप्ताह तक लंगर के जूठे बर्तन साफ करें, अकाल तख्त पर 21 रूपये कड़ाह प्रसाद तथा 101 रूपये नगद गोलक के लिए चढ़ाये सितम्बर 1985 के लोक सभा एवं विधान सभा चुनावो में अकाली दल ने चुनाव प्रचार में गुरूद्वारो का भी उपयोग किया।[1] इस प्रकार पंजाब की राजनीति पर अकाली दल एवं अकाल तख्त का प्रभाव रहता है।

इस प्रकार भारतीय राजनीति अभी धर्म निरपेक्ष नही हो पाई है भले ही भारत का संविधान धर्म निरपेक्ष हो । इसका तात्पर्य यह है कि व्यवहारिक रूप से धर्म का प्रभाव भारतीय जनता के मस्तिष्क से नही मिटा है और आज भी राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में धर्म के आधार पर भेद भाव किया जाता है। राजनीतिज्ञ एवं राजनीतिक दल धर्म एवं सम्प्रदाय को वोट बैंक मानकर राजनीतिक सफलता के लिए साधन के रूप में इस्तेमालकरते रहें हैं । मंत्रिमंडल के निर्माण मे तथा चुनावों के समय टिकट के बँटवारे के लिए धार्मिक आधार पर प्रतिनिधित्व की मांग की जाती रही है।

1- ई. पी. डब्लू0 डी - कोस्टा " हिन्दु मतदाता के मानस परिवर्तन में अकाली दल विजयी, राजस्थान पत्रिका उदयपुर 29 सितम्बर, 1985 पृ0 ।

धर्म निरपेक्ष हिन्दू नेताओं ने मतदाताओं के रूप में मुसलमानो की हैसियत समाप्त करके उन्हें महज वोटों में बदल दिया है तो सम्प्रदायवादी मुस्लिम नेताओं ने इस वोट शक्ति को अपने सीमित लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन बना लिया है। राजनीतिक दल इस डर से साम्प्रदायिकता से बचना चाहते है कि वे एक दूसरे सम्प्रदायों का वोट खो देंगे, परन्तु उनके स्थानीय संगठन स्थानीय झगड़ो का लाभ उठाने के प्रलोभन में पड़ जाते हैं । साम्प्रदायिक झगड़े भले ही छुट पुट एवं स्थानीय हो लेकिन उससे देश की बदनामी होती है और उसका लोकतंत्री धर्म निरपेक्ष स्वरूप कलंकित होता है ।[1]

इस प्रकार भारतीय राजनीति में धर्म एवं साम्प्रदायिकता बढ़ने से धर्म निरपेक्ष राजनीति के विकास का मार्ग अवरूद्ध हुआ है। साम्प्रदायिक मत प्राप्त करने के लिए दलों में तुष्टीकरण की नीति से जनमानस के मन में भारतीय राजनीतिक दलों के प्रति घृणा पैदा हुई है। यह दायित्व अब राष्ट्रीय नेताओं का बनता है कि वे समुदाय के सीमित तथा राष्ट्र के बृहतर हितों के प्रति सन्तुलन पैदा करे, प्रत्येक समुदाय के सामने अपने को निष्पक्ष साबित करे तथा समुदाय को राष्ट्र में बदले ।

1- कोठारी रजनी- भारत में राजनीति {अनुवाद} पृ0 227

अध्याय - 6

राजनीति का अपराधीकरण

अध्याय - 6

राजनीति का अपराधीकरण

भारतीय राजनीति में धन एवं अपराध की भूमिका-

पिछले दो दशकों से भारतीय राजनीति में अपराधीकरण की प्रवृत्ति का व्यापक स्तर पर विस्तार हुआ है । वर्तमान में हालत यह है कि देश का कोई ऐसा राज्य नहीं है जहाँ संगठित अपराधियो का गिरोह परोक्ष या प्रत्यक्ष तौर पर राजनीतिक गतिविधियों में लिप्त न हो । यही वजह है कि विदेशी भाषा का शब्द"माफिया" अब भारतीय समाज में अत्यंत प्रचलित हो चुका है जो वास्तव में सिसली {इटली} के अपराधी गिरोहो के लिए प्रयुक्त होता है। दरअसल राजनीतिक दल या उसके उम्मीदवार सरकार पर दबाव डालने के लिए मतदान केन्द्रो पर कब्जा करने के लिए, हिंसा फैलाने के लिए, जाली मतदान के लिए अपराधियों का सहारा लेते हैं । इसके बदले में उपहार स्वरूप वे अपराधियों को राजनीतिक संरक्षण देते हैं । आगे चलकर अपराधियो की यही जमात सीधे तौर पर राजनीति में प्रवेश करती है और यही से शुरू होता है राजनीति का अपराधीकरण ।

विगत कुछ वर्षों से भारतीय राजनीति के अपराधीकरण के मुख्य कारकों में रैली, बंद, भीड़, जन- आन्दोलन उग्र प्रदर्शन जुलूस, हड़ताल एवं धन का बढ़ता प्रभाव आदि रहेहैं । निर्वाचित सरकार का सार्वजनिक विरोध और प्रत्यक्ष कार्यवाही हमारे संसदीय लोकतन्त्र के सहचर प्रतीत होते थे ।[1]

भारत में जन आन्दोलन की राजनीति के सूत्रपात का श्रेय महात्मा गाँधी को जाता है जिन्होंने परतंत्र भारत की बेड़ियों को तोड़ने के लिए सत्याग्रह के माध्यम से सुषुप्त जनता में चेतना का संचार किया। गाँधी जी द्वारा संचालित असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन और भारत

1- महेन्द्र के. सी. : पब्लिक प्रोटेस्ट्स एण्ड सिविल लिबर्टीज इन इंडिया पालिटिकल साइंस रिव्यू अंक -1-4, दिसम्बर जनवरी 1979, पृष्ठ संख्या 195

छोड़ो आन्दोलन ब्रिटिश सरकार को दबाने के महानतम अस्त्र थे जिनके प्रबलतम जन समर्थन के कारण उसे झुकना पड़ा एवं भारत को आजादी मिली । स्वातन्त्र्योत्तर भारत में उग्र प्रदर्शन, हिंसा एवं आन्दोलन की राजनीति की शुरूआत का श्रेय भारतीय साम्यवादी दल को है । 1948 ई0 में कलकत्ता में भारतीय साम्यवादी दल का जो सम्मेलन हुआ उसमे पारित प्रमुख राजनीतिक प्रस्ताव जिसे "कलकत्ता थीसिस" कहा जाता है घोषित किया गया कि भारत मे क्रांति की लहर गतिशील है, क्रान्ति की अन्तिम अवस्था सशस्त्र संघर्ष की अवस्था में आ गई है । यह क्रांति जनतांत्रिक विप्लव का कार्य पूरा कर देगी और उसके साथ ही समाजवाद की स्थापना हो जाएगी । कलकत्ता थीसिस में यह भी कहा गया है कि भारत सरकार को । तदनुसार सम्पूर्ण भारत में रक्तरंजित क्रांति प्रारम्भ कर दी गयी, बैंकों में डाके डाले गये, ट्रेनो में डकैती एवं लूटपाट की अनेक घटनाऍ हुई ।[1]

चतुर्थ आम चुनावों के बाद विरोधी राजनीतिक दलो ने, राजनीतिक सत्ता अनेक पार्टियों और समूहों के बॉटे जाने के पश्चात् कांग्रेस सरकार को हटाने के लिए आन्दोलन का सहारा लिया जिनमें से मुख्य हैं ।

1- गुजरात आन्दोलन :

1 जनवरी 1973 से भारतीय जनसंघ और संगठन कांग्रेस ने गुजरात में आन्दोलनात्मक रवैये का सहारा लिया । राजकोट में बंद का आयोजन किया गया और इस सिल-सिले में निकाला गया जुलूस हिंसा पर उतारू हो गया और पुलिस को इसे तितर-बितर करने के लिए गोली चलानी पड़ी । इसके बाद सुरेन्द्रनगर में "बन्द" का आयोजन किया । इस बीच छात्र समुदाय को भी आन्दोलन में शामिल कर लिया गया । छात्रों ने प्रदर्शन किए और आगे चलकर हिंसात्मक हरकतें की । जिसके कारण 10 जनवरी को अहमदाबाद बन्द का आयोजन हुआ । विभिन्न राजनीतिक दलो ने गुजरात के अनेक नगरो में बन्द

1- फिर वही,

का आह्वान किया, जुलूस निकाले और कई स्थानो पर धरना दिय ।
अहमदाबाद के छात्रो ने " नव निर्माण " समिति" का निर्माण किया जिसने आन्दोलन का नेतृत्व करने का निश्चय किया । विरोधी दल एक तरफ राज्य विधान सभा को भंग करने और नये चुनाव कराने की अपनी मांग पर जोर देते रहे तो दूसरी तरफ आन्दोलन के नेताओं ने कांग्रेस मंत्रिमंडल विशेषकर मुख्यमंत्री को अपने आक्रमण का मुख्य निशाना बनाया । जिसके कारण चिमन भाई पटेल को त्याग पत्र देना पड़ा एवं राज्यो में राष्ट्रपति शासन लागू हुआ । इस आन्दोलन के माध्यम से विधान सभा भंग कराने के लिए विरोध स्वरूप लूट एवं आगजनी की घटनाएँ हुई, बसो पर पथराव जारी रहे । गुजरात आन्दोलन के परिणाम स्वरूप बहुत से निर्दोष लोग मारे गये और बहुतो को चोटे आयी जिनमें कुछ पुलिस के आदमी भी शामिल थे । 95 व्यक्ति मरे और 933 व्यक्ति घायल हुए । लूट और आगजनी के 896 मामले हुए जिनके परिणाम स्वरूप 2.5 करोड़ रूपये से अधिक की सरकारी एवं निजी सम्पत्ति नष्ट हुई ।[1]

बिहार आन्दोलन :

बिहार में आन्दोलन मुख्यत: छात्रों द्वारा आवश्यक वस्तुओं के बढ़ते हुए मुल्य बेरोजगारी की बढ़ती समस्या आदि से सम्बन्धित अपने रोष को प्रदर्शित करने के लिए आयोजित किया गया था । परन्तु गुजरात में मिली सफलता के उन्माद में विभिन्न राजनीतिक दलों और असमाजिक तत्वों ने 10 मार्च 1974 को पटना में प्रदर्शन की एक महायोजना बनायी । इस प्रदर्शन का उद्देश्य विधान मंडल के संयुक्त सत्र में वार्षिक अभिभाषण देने के लिए राज्यपाल को विधान भवन मे जाने से रोकना बताया गया । बाद में प्रदर्शन व्यापक हिंसा और तोड-फोड़े में परिवर्तित हो गया जिसमें 20 व्यक्तियों की जाने गयी और सम्पत्ति को भारी हानि हुई ।[2] विभिन्न राजनीतिक दलो के नेताओं ने श्री ज प्रकाश

1- नवभारत टाइम्स - 21-23 फरवरी 1973

नारायण से भेंट की और इस आन्दोलन का नेतृत्व संभालने के लिए अनुरोध किया और अप्रैल 1974 के शुरू में वे उनके अनुमति पाने में सफल हो गये। जय प्रकाश नारायण को राजनीतिक दलों द्वारा सम्भवतः ये आश्वासन दिया गया कि विधान मंडल को भंग कराने के समर्थन में उनके सदस्य पूर्ण रूप विधान सभा से त्याग पत्र दे देंगे लेकिन सभी सदस्यों द्वारा इस्तीफा न देने पर उन्हे बल प्रयोग द्वारा उन्हे त्याग पत्र देने के लिए बाध्य किया गया।[1]

छात्रों से कहा गया कि वे परीक्षाओं का बहिष्कार करें एवं 1 वर्ष के लिए कालेजों का बहिष्कार करे। परीक्षार्थियों में आतंक फैलाने के लिए एक विद्यार्थी को गोली मार दी गयी आन्दोलन को गति तेज करने के लिए 3-5 अक्टूबर 1974 तक बिहार बंद का आह्वान किया गया।

बन्द के दौरान हिंसा की अनेक घटनाएँ हुई। 4 नवम्बर को एक विशाल प्रदर्शन के लिए, विधान सभा एवं विधान सभा सदस्यों के घेराव के लिए भारी भीड़ इकट्ठी हुई, सचिवालय के सामने धरना दिया गया। दिसम्बर 1974 से इस आन्दोलन के नेताओं ने ग्रामों में छात्र संघर्ष समिति, जन संघर्ष समिति आदि स्थापित करने और समानान्तर सरकार स्थापित करने जैसे कार्यो को ओर ध्यान दिया गया। 19 फरवरी 1975 को पटना में एक रैली का आयोजन किया गया। बिहार में इस दीर्घकालीन आन्दोलन के दौरान हिंसा के 544 मामले हुए। पुलिस को 54 बार गोली चलानी पडी। हिंसा की घटनाओं के परिणामस्वरूप 500 से अधिक लोगों को चोटे आयी और 70 व्यक्ति मरे। पुलिस के अनेक कर्मचारियों को चोटे आयी। बिहार आन्दोलन के माध्यम से जनप्रकाश नारायण ने लोक-तंत्रात्मक कार्यो को सभी स्तरों पर खत्म करने और संवैधानिक अधिकार के अधीन गठित व्यवस्था को भंग करने के लिए, आपराधिक राजनीति की परम्परा को आगे बढ़ाया।[2]

1- नवभारत टाइम्स - 27 सितम्बर 1974
2- टाइम्स ऑफ इंडिया ब्यूरो

रेल्वे हड़ताल :

मई 1974 को रेल्वे हड़ताल वास्तविक रूप से राष्ट्रीय विनाश के आन्दोलन के एक अंग थी। रेलवे की हड़ताल से आवश्यक चीजों और औद्योगिक उत्पादनों आदि के लाने ले जाने के कार्यों में रूकावट पड़ने के कारण देश में दुर्व्यवस्था और गड़बड़ी पैदा हुई। जार्ज फर्नाण्डीज ने कहा कि रेलवे परिवहन को पूरी तरह ठप्प करके किसी भी समय सरकार को गिरा सकते है ..... भारतीय रेल्वे के 15 दिनों के हड़ताल का अर्थ होगा - देश भूख से मर जाएगा। अपनी योजना को व्यापक बनाने के लिए जार्ज फर्नाण्डीज ने रेलवे कर्मचारी राष्ट्रीय समन्वय समिति का गठन किया और हड़ताल का वातावरण बनाने के लिए देश का दूर-दूर तक दौरा किया। प्रशासन तन्त्र को पूर्णत: बन्द करने के लिए मार्क्सवादी साम्यवादी दल ने " रेलवे हड़ताल" के समर्थन मे उसी समय केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों द्वारा एक सहानुभूति पूर्ण हड़ताल करवायी। रेल्वे हड़ताल के समय अनेक जगह तोड-फोड़ की गयी।[1]

गुजरात में आरक्षण विरोधी आन्दोलन -

राज्य विधान सभा निर्वाचन (फरवरी 1985) से पूर्व गुजरात की सोलंकीसरकार ने 11 जनवरी 1985 को पिछड़े वर्गों के लिए 18 प्रतिशत अतिरिक्त आरक्षण और सहूलियतों की घोषणा की। ऐसा समझा गया था कि यह घोषणा राणे आयोग की सिफारिशों के आधार पर की गयी है। 18 प्रतिशत के इस आरक्षण के फलस्वरूप आरक्षण का कुल प्रतिशत बढ़कर 49% हो गया। क्योंकि 21% आरक्षण तो संवैधानिक प्राविधानों के तहत पहले से था।[2]

सोलंकी पिछड़े वर्गों को खुश करने की कोशिश कर रहे थे, जो राज्य की कुल आबादी का 70 प्रतिशत है और जिन्हे आमतौर पर कांग्रेस(इ) का वोट

1- टाइम्स ऑफ इण्डिया ब्यूरो

2- नवभारत टाइम्स पृ0 1, 22 जनवरी 1985

बैंक माना जाता हैं । वस्तुत: राणे आयोग को सिफारिशें सामाजिक एवं शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के बारे में है और इसके तहत वो सभी लोग आते हैं जिसकी वार्षिक आय दस हजार से कम है ।[1]

इस आरक्षण के खिलाफ आन्दोलन को शुरूआत छात्रों एवं अभिभावकों ने की । भारतीय जनता पार्टी ने बाद में इस आन्दोलन का समर्थन कर दिया । गुजरात में हिंसा, अराजकता, साम्प्रदायिक एवं जातीय दंगों को आग जलने लगी और करीब एक सौ से अधिक लोग मारे गये । आरक्षण विरोधी आन्दोलन से उपजी हिंसा, अराजकता को आग जातीय संघर्ष , पंचायत कर्मचारियों की हड़ताल राज्य कर्मचारियों की हड़ताल ने असुरक्षा एवं अराजकता फैला दी । सोलंकी सरकार ने आरक्षण के बढ़े हुए कोटे को वापस ले लिया ।[2]

<u>हिंसा को राजनीतिक शस्त्र के रूप में प्रयोग :</u>

8 वें दशक के प्रारम्भ से भारतीय राजनीति हिंसक हो गई है । इसका तात्पर्य यह है कि हिंसा को राजनीतिक शस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया जाने लगा है। इसका मुख्य कारण यह है कि देश की जनता में यह विश्वास घर कर गया है कि हमारी सरकार केवल दबाव की भाषा जानती है। यदि सरकार के सामने न्यायोचित मॉग प्रस्तुत की जाती है तो उसके कान पर जूं नही रेंगती जब तक तोड़-फोड़ और आन्दोलन के द्वारा आँधी नहीं खड़ी कर दी जाती । जैसा कि माइनर वीनर ने लिखा है " सरकार कोई रियायत तभी देने को तैयार होती है जब किसी जन आन्दोलन में शान्ति एवं व्यवस्था का खतरा होता है, यह इसलिए नही कि सरकार {आन्दोलनकारियों की मांग} को उचित मानती है, बल्कि इसलिए इससे सरकार को मांग करने वाले समुदाय की ताकत और उनकी विनाशिता की क्षमता का आभास होता है।[3]

1- नव भारत टाइम्स 22 जनवरी 1985 पृ0 ।
2- नव भारत टाइम्स 22 जनवरी 1985 पृ0 ।
3- वीनर माइनर -अपने ग्रंथ पालिटिक्स ऑफ स्कारसिटी में लिखते हैं

हिंसा को राजनीतिक अस्त्र के रूप में विशेषतः उत्तर पूर्व के राज्यों एवं उत्तर भारत के जम्मू-काश्मीर एवं पंजाब राज्यों में विशेषतः इस्तेमाल किया गया है। असम में 1979 से गण सत्याग्रह आयोजित किया गया । आन्दोलन की शुरूआत अखिल असम विद्यार्थी संघ ने किया । जगह-जगह असम बन्द आयोजित किये गये । सरकार के असम में 1980 का लोक सभा चुनाव करवाना कठिन हो गया और चुनाव स्थगित करने पड़े । 19, 20 एवं 30 नवम्बर 1981 को असम में आन्दोलन कारियों द्वारा आयोजित बंद तथा रास्ता रोको अभियान को जोरदार सफलता यहाँ की जनता के जोश एवं हिंसक आन्दोलन के प्रति आस्था का परिचायक था । इस प्रकार के हिंसक आन्दोलन आगे भी होते रहे जिसके परिणाम स्वरूप 15 अगस्त 1985 को असम समझौता हुआ ।

सन् 1980 के बाद से अकाली नेताओं और अंग्रेजी पढ़े-लिखे कुर्सी लोभी राजनेताओं के प्रयासों से पंजाब में खालिस्तान आन्दोलन की लाग लगाई गई शहरों एवं कस्बो में खतरे में हैं के नारे लगाकर सिक्खो को भड़काया गया। पंजाब में यह प्रचार किया गया कि सिख हिन्दु नहीं बल्कि अलग कौम है । अपने राजनीतिक इच्छाओं की तृप्ति के लिए सन्त जनरैल सिंह भिंडरवाले जैसे कट्टर सिखों ने गुरूद्वारों तक को अछुता नहीं छोड़ा, इन्होंने सिख आतंकवादियों को प्रश्रय दिया एवं उन्हे गुरूद्वारो में शरण दिया जिन्होंने पूरे पंजाब में हिंसक आतंकवादियों कारवाइयों की झड़ी लगा दी । जिसके कारण पंजाब में आपरेशन ब्लू स्टार जैसी शर्मनाक कारवाइयाँ करनी पड़ी । जिसके फलस्वरूपस्वरूप देश के प्रधान मंत्री को ही आतंकवादियों का शिकार होना पड़ा एवं इसके पश्चात देश भर में हिंसा की आग लग गई एवं पंजाब में हिंसक वारदातों का तांता लग गया एवं पंजाब में जन सामान्य असुरक्षित हो गया । केवल 1986 में पंजाब में 600 लोगों को आतंकवादियों ने मौत की नींद सुला दिया ।[2] एवं यह प्रक्रिया उत्तरोत्तर में अनवरत रूप से चल रही है दिन प्रतिदिन बस यात्रियों, ट्रेन

1- टाइम्स ब्यूरो

यात्रियों को आतंकवादियों का शिकार होना पड़ रहा है । राजनीतिक पार्टियाँ सत्ता के लालच में जोड़ तोड़ की कोशिश करती रही है ।

इसी प्रकार पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग जिले में गोरखालैंड की मांग को हिंसक वारदातें की गई हैं असम के ब्रम्हपुत्र के उत्तर तटीय श्रीरामपुर से सदिया तक के क्षेत्र को बोडोलैंड नामक अलग राज्य केगठन के लिए बोडो छात्र संघ एवं बोडो पीपुल्स एक्सन कमेटी ने हिंसा का रास्ता अपनाया । 16 अगस्त 1987 को बोडो नेतृत्व ने एक हजार घंटे बंद का आह्वान किया जिसे तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी के हस्तक्षेप पर 18 अगस्त 1987 को समाप्त कर दिया । 20 अगस्त 1987 को केन्द्र सरकार, राज्य सरकार एवं बोडो प्रतिनिधियों के बीच बोडो समस्या के समाधान हेतु प्रथम त्रिपक्षीय बातचीत प्रारम्भ हुई ।[1] लेकिन आन्दोलन ने 1989 में गंभीर हिंसक रूप धारण कर लिया मार्च 1989 तक सरकारी आंकड़ों के अनुसार 96 बोडो आन्दोलनकारियों की मौत हुई ।

8वे दशक के मध्य से लेकर वर्तमान तक काश्मीर में राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हिंसक वारदातों का दौर जारी है। कश्मीर में सक्रिय उग्रवादियों के अनेकों गुट हैं जो कि अपने-अपने को कश्मीर में शांति - व्यवस्था कायम करने में प्रमुख रूप से मानते हैं । इन हिंसक वारदातों के कारण कश्मीर का जन सामान्य कश्मीर से पलायन को मजबूर हुआ है । भारत के पड़ोसियों से सम्बन्ध मधुर न रहने के कारण वो भी इन सक्रिय उग्रवादियों को हर तरह से सहायता देते हैं जिससे कि भारत की आंतरिक स्थिति अशांत रहे।

राजनीति में धन एवं अपराधियों का दबदबा :

लोकतांत्रिक प्रणाली में चुनाव एक यज्ञ माना जाता है जिसके माध्यम से न केवल जन प्रतिनिधित्व निर्धारित होता है अपितु जनता द्वारा जनता को

1- 29 अगस्त 1987 नवभारत टाइम्स

सरकार का चयन होता है आज के समय में चुनाव संविधान की कसौटी पर खरे नहीं उतर रहे हैं क्योंकि यहाँ वोट धन शक्ति से खरीदे जाते हैं एवं विजय बाहुबल से प्राप्त की जाती है। चुनाव में धन शक्ति का उपयोग कोई नयी बात नहीं है । सभी राजनीतिक पार्टियाँ अपना चुनाव अभियान चलाने के लिये उद्योगपतियों के दरवाजे पर दस्तक देती हैं ।[1]

चुनाव प्रणाली में विसंगतियों की शुरूआत 1962 से हुए फूलपुर संसदीय आम चुनाव से होती है । यहाँ से पंडित जवाहर लाल नेहरू कांग्रेसी उम्मीदवार थे । इनके खिलाफ लोहिया चुनाव लड़ रहे थे । इस चुनाव के दौरान हंडिया, फूलपुर, सोराँव तहसीलों को जोड़ने वाली सड़क के निर्माण हेतु 33 लाख रूपया मंजूर किया गया ।[2]

इंदिरा गाँधी के कार्यकाल में तो हालत और बदतर हो गई । पूंजीपतियों एवं सत्ताधारियों के बीच एक नापाक गठजोड़ कायम हुआ जो आज भी प्रमुख भूमिका निभा रहा है । दरअसल जहाँ एक ओर पूँजीपति वर्ग सत्ताधारी दल के पार्टी कोष में चुप-चाप मोटी रकमें जमा करने लगे । वहीं इस चुपचाप दी गई मदद के एवज में वे कोटा परमिट लाइसेंस हथियाने लगे संजय गाँधी के दिनों मे यह खेल खूब परवान चढ़ा और इस हाथ दे उस हाथ ले, की शुद्ध व्यापारिक परम्परा कायम हुई । नतीजतन, इस बेनामी पैसे से चुनाव व्यवस्था केवल पैसे का खेल बनकर रह गया राजीव गाँधी के सत्ता मे आने के बाद भी यह परम्परा कायम रही ।

आज की नयी राजनीतिक शैली में प्रणाली चुनाव खर्च मे जो दर्शाता है उसका चौगुना तो टिकट हासिल करने मे लग जाता है। चुनाव में नामांकन के दिन से लेकर जीत तक कोई भी गंभीर चुनाव लड़ने वाला विधान सभा प्रत्याशी न्यूनतम दो लाख रूपये तक खर्च करता है क्योंकि मौजूदा चुनावी व्यवस्था में कुछ

1- नवभारत टाइम्स

2- राष्ट्रीय सहारा, हस्तक्षेप 31 अक्टूबर 1993 पृ0 4

चीजे लाजिमी है। दलीय उम्मीदवारों को पार्टियाँ भी अच्छी खासी रकम और गाड़ियाँ उपलब्ध कराती है। पूरे चुनाव भर नैतिकता और सिद्धान्तों पर भाषण देने वाले लोग धनराशि के सहारे ही चुनाव लड़ते हैं। 1984 में अभिताभ बच्चन ने इलाहाबाद चुनाव में बहुगुणा के मुकाबले पानी की तरह पैसा बहाया था। अभिताभ के चुनाव में महेद्रा की लगभग 100 जीपे प्रचार में आयी थी।

हाल के चुनावों में धन शक्ति प्रदर्शन में भाजपा ने कांग्रेस को पछाड़ दिया है, इसका कारण यह है भी है कि टिकट पाने का एक प्रतिमान पैसा भी हो गया है। चुनावो में धन शक्ति के प्रयोग में वामपंथियों को छोड़कर कोई भी दल पीछे नहीं रह गया है। भाजपा के प्रत्याशी विश्वनाथ शास्त्री कहते है कि राजनीति की बुनियाद ही झूठ पर आधारित है। जब हम झूठी शपथ लेते हैं झूठे चुनाव खर्चे देते है तो फिर किस सच्चाई की बात हम कर सकते हैं। आज कोई सांसद दिल पर हाथ रखकर नहीं कह सकता है कि उसने जो चुनाव खर्च का ब्यौरा दिया है वह सच है।

चुनाव खर्चे का उपलब्ध ब्यौरा [1]

वर्ष	मतदाता सूची में संशोधन पर खर्च	चुनाव कराने में खर्च	कुल खर्च
1967	3 करोड़ 54 लाख	7 करोड़, 41 लाख	10 करोड़ 95 लाख
1977	7 करोड़ 9 लाख	22 करोड़ 3 लाख	29 करोड़ 82 लाख
1984	15 करोड़ 80 लाख	62 करोड़ 48 लाख	78 करोड़, 28 लाख
1989	14 करोड़ 33½ लाख	95 करोड़ 81 लाख	110 करोड़ 15 लाख

1- इलेक्सन कमीशन रिपोर्ट

चुनाव खर्च का आकलन एक कठिन काम है । अगर श्रम दिवसों की हानि तथा सरकारी व गैर सरकारी खर्च को जोड़ा जाय तो चुनाव खर्च देश पर बोझ साबित होंगे । लेकिन लोकतांत्रिक व्यवस्था को जिंदा रखने के लिए यह जरूरी है । पहले आम चुनाव 1951-52 में प्रति संसदीय क्षेत्र के लिए खर्च की अधिकतम सीमा 35 हजार रू० तय की गयी थी । कांग्रेस के दिग्गज नेता प्रो. एन. जी. रंगा आंध्र प्रदेश से पहला चुनाव केवल 1400 रूपये मे लड़े थे । लेकिन बाद मे चुनाव खर्च बढ़ते गये । 1979 में चुनाव खर्च की सीमा बढ़ाकर एक लाख रूपये और 1984 में 1.5 लाख कर दी गयी । अब यह सीमा 2 लाख रूपये । विधान सभाओं मे यह सीमा अलग-अलग है । उ0प्र0 में विधान सीमा खर्च की सीमा 50 हजार, राजस्थान की 40 हजार, हिमाचल की बीस हजार तथा म0प्र0 की 40 हजार है ।[1] मौजूदा चुनाव खर्च सीमा मे प्रत्याशी को एक लाभ यह भी है कि पार्टी द्वारा किये जाने वाले खर्च उसके अपने खर्च में नही जुड़ते । इतिहास गवाह है कि जैसे-जैसे चुनाव करीब आता जाता है, राजनीतिक दलो के खजाने का मुँह खुलता चला जाता है । मतदान से पूर्व धन से मतदाता को प्रभावित किया जाता है । कम्बल, कपड़े बांटे जाते हैं शराब पानी की तरह बहायी जाती है।

यदि धन का प्रयोग विफल हो जाता है तो आज की राजनीति का सबसे अनोखा रंग देखने में आता है जिसे मतदान के दिन प्रयोग में लाया जाता है वह है भुजबल जिससे जीत निश्चित हो सके एवं यही से शुरू हुआ है राजनीति में अपराधियों का पदर्पण ।

आज की भारतीय राजनीति में अपराधियों का दबदबा हर स्तर पर दिखायी पड़ता है जिसका प्रारम्भ मुख्यत: 8वें दशक के प्रारम्भ से शुरू होता है। एक राज्य के बाद दूसरे राज्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से तमाम राष्ट्र विरोधी तत्व पंचायतों का प्रमुख, विधान सभाओं के सदस्य बनाकर नियंत्रण प्राप्त करते

1- इलेक्सन कमीशन रिपोर्ट से

आ रहे हैं । इस प्रकार के आपराधिक चरित्र वाले सदस्य अपना जीवन एक अपराधी की हैसियत से शुरू करते है । राजनीतिक दल या उसके उम्मीदवार चुनावों में मतदान केन्द्रो पर कब्जा करने, चुनावी हिंसा फैलाने जाली मतदान करने के लिए इन अपराधियों का सहारा लेते हैं । इसके बदले में चुनाव में जीते सदस्य इनको संरक्षण देते हैं । आगे चलकर यही अपराधी चुनाव सीधे तौर पर चुनाव में भाग लेने लगे है जिससे कि चुनाव प्रक्रिया में विकृतियाँ पैदा होने लगी है ।

आज भारतीय राजनीति में तहसीलदार सिंह, मदन भैया, डी. पी. यादव, वीरेन्द्र साही, हरिशंकर तिवारी, राजा भय्या, पप्पू यादव, आनंद मोहन सिंह, किंग महेन्द्र जैसे आपराधिक चरित्र वालो की लम्बी सूची हैं जो कि वर्तमान में विभिन्न सदनों के सदस्य है। इसका मुख्य कारण यह है कि जब एक अपराधी राजनेता बन जाता है तो उस स्थिति में उसका अपराधी चरित्र पर्दे के पीछे छुप जाता है और वह जनता एक हिस्से के मसीहा के रूप में अपने आपको पेश करता है उसका अतीत वाला अपराधिक जीवन उसे सशक्त राजनीतिक आधार प्रदान करता है ।

राजनीति और उससे जुड़े चेहरो के अपराधीकरण की एक वजह यह भी है कि जब-जब सामाजिक न्याय एवं सामाजिक परिवर्तन के प्रवाह को रोकने का उसके राजनीतिकरण का प्रयास होता है, समाज की लंपट ताकते, मुखर होकर सामने आ जाती है और संवाद और सहमति के स्वर इस शोरगुल में लिप्त हो जाते हैं । इसका ज्वलंत उदाहरण अस्सी के दशक के पूर्वार्द्ध में उत्तर प्रदेश की विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार है जब इस प्रकार ने वी. पी. सिंह की शह पर अपनी पुलिस से पिछड़ी-हरिजनो का राज्य भर में कत्ले आम करवाया, तो पिछड़े वर्गों में प्रतिक्रिया हुई और उनमे विक्रम मल्लाह और फुलन सरीखे चेहरे

1- राष्ट्रीय सहारा 31 अक्टूबर, हस्तक्षेप पृ0 ।

एक खुखार छवि के साथ उभरकर सामने आये। इसी तरह बिहार में हुआ कर्पूरी ठाकुर वहाँ के सामाजिक आन्दोलन के वाहक थे और पिछड़ो एवं हरिजनों के उत्थान के लिए सामाजिक न्याय का संघर्ष गाँधीवादी तौर तरीके से लड़ रहे थे, लेकिन भाजपा, जनता पार्टी एवं कांग्रेस के अगड़ो नेताओ ने कर्पूरी के विरोध मे अगडी जातियों का गठबंधन करके वातावरण को कटु बनाया।[1] इस गुडागर्दी के प्रतिरोध में पिछड़ो की राजनीति में भी अपराधी प्रवृत्ति के चेहरो का प्रभाव बढ़ा। लालू यादव तमाम कमियों के बावजूद बिहार में पिछड़ो के हीरो हैं।

इस प्रकार के अपराधी चरित्र के नेताओं का न तो कोई आदर्श है नहीं कोई नीति है न ही देश के हित के लिए कोई कार्यक्रम लागू करने की इच्छा है न ही ये लोग राष्ट्र के प्रति वफादार हैं। ये राजनीति के अखाड़े में मात्र अपनी आपराधिक चरित्र को छुपाने एवं बड़ी धनराशि कमाने के लिए आए है। वे अब पुलिस दल एवं सरकारी तानाशाही पर नियंत्रण करने लगे हैं क्यूँ कि वे अपने विरोधियों को समाप्त करने एवं हिंसा में विश्वास रखते हैं एवं अपने क्रिया कलापो द्वारा व्यवस्था को दूषित करते जा रहे हैं।

अध्याय - 7

नौकरशाही की भूमिका

अध्याय - 7

नौकरशाही की भूमिका

लोकसेवा को " नौकरशाही" भी कहा जाता है। नौकरशाही लोक सेवाओं के दोषों की ओर संकेत करती है । साधारणत: इससे यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि नागरिक सेवा के कर्मचारी लालफीताशाही के दोष से घिरे रहते है तथा वे जनहित की उपेक्षा करते हैं । नौकरशाही उस व्यवस्था को कहते है जिसके अन्तर्गत सरकारी कर्मचारी अपने को जनता का सेवक न समझकर स्वामी समझने लगते हैं जनहित की उपेक्षा करते हैं, नियमों और विनियमों का कठोरता से पालनकरते हैं और कार्य में विलम्ब होता है। वस्तुत: नौकरशाही के तरीके अनमनीय, यान्त्रिक, हृदयहीन एवं औपचारिक हो जाते है । वे जनता से अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते और अपनी श्रेष्ठता का दावा करते है । फाइनर ने इसे "मेज का शासन" कहकर पुकारा है। संक्षेप में, नौकरशाही एक कार्यकुशल, प्रशिक्षित तथा कर्तव्य परायण सरकारी कर्मचारियों का विशिष्ट संगठन है जिसमें पद सोपान " तथा " आज्ञा की एकता" के सिद्धान्त का कड़ाई से पालन किया जाता है।[1]

ब्रिटिश शासनकाल में भारतीय प्रशासनिक सेवाएं बहुत ही अधिक तीव्र गति से बदली और विकसित हुई है। इसका प्रमुख कारण यह माना जा सकता है कि ब्रिटिश शासन में साम्राज्यवाद तथा प्रशासनिक सुधार दोनों ही दृष्टियों से भारतीय लोक सेवाओं को एक प्रमुख क्षेत्र माना था । मैकाले, इस्लिगटन तथा ली फर्नहाम आदि प्रसिद्ध अंग्रेजों ने भारत की प्रशासनिक सेवाओं को एक विशिष्ट ढाँचे में डालने के लिए गम्भीर प्रयत्न किये और आज भी भारतीय प्रशासन में जिस अखिल भारतवर्षीय सामान्य सेवाओं का

1- सिन्धी डॉ0 नरेन्द्र कुमार, ब्यूरोक्रैसी पोजीसन एंड पर्सनस अभिनव पब्लिकेशन न्यू दिल्ली, 1974 पृ0 24

वर्चस्व है वह इन्हीं महानुभावों की बौद्धिक परिकल्पना का परिणाम है। लम्बे विकास ने इस सेवाओं को अनाम-बेनाम, तटस्थ एवं स्वामिभक्ति की विशेषताओं से सुदृढ़ बनाया है। भारतीय सेवाओं के इतिहास में सन् 1854 सर्वाधिक महत्वपूर्ण वर्ष था, जबकि लार्ड मैकाले की अध्यक्षता में कमेटी आन इण्डियन सिविल सर्विसेज का गठन हुआ। इस कमेटी में आई०सी० एस० के लिए जो सिफारिशें की थी वे न्यूनाधिक रूप में आज भी भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के गठन और कार्य-प्रणाली की आधार-स्तम्भ है।[1]

भारत के गणतन्त्रीय संविधान ने अखिल भारतीय सेवाओं अर्थात् आई० ए० एस० आई पी०एस० सेवाओं को इसी रूप में कार्य करते रहने का निश्चय किया और इन सेवाओं की व्यवस्था संविधान की संघीय सूची में सातवी अनुसूची के अन्तर्गत की और राज्यसभा को यह अधिकार प्रदान किया कि भविष्य में यदि अखिल भारतीय सेवाओं में वृद्धि करने की आवश्यकता पड़े तो वह ऐसा कर सकती है। इसी प्रकार संविधान ने यह भी व्यवस्था कर दी है कि इन सेवाओं के चयन हेतु केन्द्रीय स्तर पर संघीय लोक सेवा आयोग तथा राज्य स्तर पर प्रत्येक राज्य का अपना लोक सेवा आयोग। वर्तमान समय में भारत में चार अखिल भारतीय सेवाऐं है दस सुसंगठित केन्द्रीय है (भारतीय विदेश सेवा के अतिरिक्त) और अनेक प्रथम श्रेणी की प्रान्तीय सेवाएं है। ये निम्न प्रकार है -

अखिल भारतीय सेवाएँ -

1- भारतीय प्रशासनिक सेवा।

2- भारतीय पुलिस सेवा।

3- भारतीय वन सेवा।

4- भारतीय आर्थिक और भारतीय सांख्यिकी सेवा।

केन्द्रीय सेवा प्रथम श्रेणी - 1- भारतीय रेल्वे अकाउण्ट्स सर्विस 2- भारतीय आयकर सेवा 3- भारतीय चुंगी और केन्द्रीय एक्साइज सेवा 4- भारतीय आडिट एवं अकाउण्ट्स सेवा 5- भारतीय प्रतिरक्षा अकाउण्ट्स सेवा 6- भारतीय डाक सेवा 7- भारतीय रेल्वे ट्रैफिक सेवा 8- मिलिट्री भूमि एवं छावनी सेवा । 9- भारतीय अध्यादेश फैक्ट्रीज सेवा 10- भारतीय सूचना एवं प्रसारण सेवा ।

राज्यों में प्रायः निम्न सेवाएं पायी जाती है - 1- राज्य प्रशासनिक सेवा 2- राज्य पुलिस सेवा 3- राज्य आडिट एवं अकाउण्टस सेवा 4- राज्य शिक्षा सेवा 5- राज्य कोआपरेटिव सेवा 6- राज्य नियोजन सेवा 7- राज्य वाणिज्यिक कर सेवा।[1]

भारतीय नौकरशाही की विशेषताएँ -

§1§ स्थायित्व - लोक सेवा के सदस्य स्थायी रूप से अपने पदों पर रहते है । लोक सेवा के सदस्य युवाकाल में सेवा में प्रवेश करते है और एक निश्चित आयु के बाद पद-निवृत्त हो जाते है।

§2§ राजनीति से सदस्यता - लोक सेवा के सदस्य राजनीतिक दलबन्दी से सक्रिय भाग नही लेते । वे राजनीतिक दलों के सदस्य नही होते, राजनीतिक आन्दोलन औरनिर्वाचन में भाग नही लेते । किसी भी दल की सरकार सत्ता में हो, उनका कार्य तो सरकार की नीतियो का क्रियान्वयन है।

§3§ व्यावसायिक- लोक सेवा के सदस्य पेशेवर कहे जा सकते है। सरकारी कर्मचारियों का मुख्य कार्य सरकारी सेवा करना है जिसके लिए सामान्य दक्षता की आवश्यकता पड़ती है यद्यपि व्यावसायिक एवं प्राविधिक सरकारी सेवाओं के हेतु विशिष्ट तकनीकी शिक्षा प्राप्त कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती है ।[2]

1- भभारी सी0पी0 पब्लिक एडमिनीटेशन इन इंडिया, विकास 1973पृ0 51

§4§ पदसोपान – लोक सेवाओं का संगठन पदसोपान के सिद्धान्त पर होता है। पदसोपान का शाब्दिक अर्थ है उच्चतर व्यक्ति द्वारा निम्नतम व्यक्तियों पर शासन। यह एकक्रमिक संगठन है जिसमें निम्नस्तरीय व्यक्ति, उच्च – स्तरीय व्यक्ति या पदाधिकारी के प्रति उत्तरदायी रहते है।

§5§ प्रतिबद्धता– प्रतिबद्ध नौकरशाही का दृष्टिकोण नौकरशाही के परम्परागत दृष्टिकोण तटस्थता" से जुडा हुआ है। भारत में लोक सेवा का परम्परागत गुणतटस्थता है। तटस्थता एवं निष्पक्षता ब्रिटिश लोक सेवा की प्रमुख विशेषता रही है। इसके अन्तर्गत तीन बातें शामिल है– प्रथम, जनता को विश्वास होना चाहिए कि लोक सेवा सभी प्रकार के राजनीतिक पक्षपात एवं दबाव से मुक्त है। द्वितीय, मंन्त्रियों को यह विश्वास होना चाहिए कि सत्ता में चाहे जो दल आये, लोकसेवा की उन्हे निष्ठा प्राप्त रहेगी। तृतीय लोक सेवाओं के नैतिक साहस का आधार यह मान्यता है कि पदोन्नति या अन्य पुरस्कार राजनीतिक मान्यताओं या पक्षपातपूर्ण कार्यों पर नही निर्भर करते बल्कि योग्यता एवं कुशलता पर निर्भर करते है।

नौकरशाही को "प्रतिबद्धता" से दो अर्थ लिये जा सकते है, प्रथम नीतियों और संवैधानिक आदर्शों के प्रति प्रतिबद्धता और द्वितीय, राज- नीतिक दल एवं राजनेता के प्रति प्रतिबद्धता[1]

सभी प्रशासक यह चाहेगें कि कार्यकुशलता, दक्षता, परिणाम- प्राप्ति या उत्पादन आदि क्षेत्रो में वे सम्पूर्ण निष्ठा के साथ प्रतिबद्ध हो। लोक सेवक सरकार की आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक नीतियों के सम्बन्ध में अपने निष्पक्ष विचार रखें और जब नीतियों का निर्माण हो जाये तो निष्ठा के साथ भावात्मक रूप से जुड़ जाये। यदि "प्रतिबद्धता" शब्द

1– फिर वही, पृ0 52

से यही आशय है तो उस पर कोई विवाद नहीं हो सकता है । संविधान के मूल आदर्शों के प्रति प्रतिबद्ध होने से प्रशासकों को क्या आपत्ति हो सकती है ? किन्तु प्रतिबद्धता के क्षेत्र में वास्तविक विरोध जिस प्रश्न पर है वह यह है कि क्या प्रतिबद्धता पद विशेष से मुड़कर व्यक्ति विशेष के प्रति हो सकती है ? अथवा क्या प्रतिबद्धता के नाम पर प्रशासकों को जानबूझकर किसी विशेष विचारधारा के अनुसार काम करने के लिए विवश किया जा सकता है ? क्या प्रतिबद्धता से अभिप्राय अपने राजनीतिक स्वामी की इच्छा और आकांक्षा के अनुसार अपने विचारों को ढालते हुए उन्हें केवल वही परामर्श है जो उन्हें पसन्द हो ?[1]

दिसम्बर 1969 से श्रीमती इन्दिरा गांधी ने नौकरशाही से प्रतिबद्धता की मांग की[2] प्रतिबद्ध नौकरशाही के औचित्य को प्रतिपादित करते हुए उन्होंने कहा कि §1§ चूंकि भारत ने समाजवादी ढांचे का लक्ष्य बनाया है इसलिए प्रशासकीय मशीनरी में परिवर्तन की आवश्यकता है जिससे वह समाजवादी नीतियों को लागू करने का प्रभावशाली यन्त्र बन सके । §2§ भारत की प्रशासकीय पद्धति में क्रान्ति की आवश्यकता है जिसके बिना किसी क्षेत्र में कोई भी साहसिक परिवर्तन नहीं किया जा सकता । वे समस्त लोग जिन पर प्रशासन और उन्नति की जिम्मेदारी है, जनता की सेवा और उसके कल्याण के प्रति प्रतिबद्ध हो । उन्हें जनता को केवल आंकडो के रूप में नहीं मानव मात्र के रूप मे देखना चाहिए । §3§ योजनाओं के अन्तर्गत धन के एक बड़े भाग का प्रयोग नहीं हो पाया और इसका उत्तरदायित्व प्रशासन पर है। हमें राष्ट्रीय उद्देश्यों से प्रतिबद्ध और सामाजिक आवश्यकताओं के प्रति चेतन नौकरीशाही की आवश्यकता है । §4§ अभिजात्य-वर्गीय और

1- मेहता अशोक - दि इण्डियन पालिटिक्स साइन्स रिव्यू, खण्ड 5, सं01 अक्टूबर 1970 पृ0 50

अनुदारवादी §आई० सी०एस०§ नेतृत्व में वर्तमान नौकरशाही समाजवादी रास्ते और लाइन के लिए समुचित आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकताओं को मुश्किल से पूरा कर सकती है। §5§ एक देश जो सदियों से स्थिर और गतिहीन रहा हो, जहाँ सदियों से रूकी तरक्की को दशकों में पूरा करना है तथाकथित तटस्थ प्रशासकीय मशीनरी मदद नही करेगी, बाधा बनेगी । §6§ जब मैं प्रतिबद्ध शब्द का प्रयोग करती हूँ तो मेरा तात्पर्य होता है कि उनकी §लोक सेवकों को§ संविधान के नीति-निर्देशक तत्वों और उद्देश्यों के प्रति निष्ठावानहोना चाहिए ।

वस्तुत: प्रतिबद्धता नौकरशाही को किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधन के रूप में परिणत कर देती है न कि साध्य के रूप में । प्रतिबद्ध नौकरशाही की व्यवस्था सेअनेक लाभ है- प्रथम, इस तरह की व्यवस्था में प्रशासक सत्तारूढ़ दल की नीतियों के निर्माण में और उनकी क्रियान्विति में अधिक उत्तरदायित्व की भावना से कार्य करेंगे, अर्थात् वे असफलताओं से अपने आपको मुक्त नहीं रख सकेंगे । अत: यह व्यवस्था प्रशासनिक उत्तरदायित्व,अक्षमता, अनुशासनहीनता और अकर्मण्यता की स्थिति भंग करने में सहायक होगी । द्वितीय, राजनीतिक नेतृत्व अपने घोषणा-पत्र में निहित के क्रियान्वयन में बाधक प्रशासकों को हटाने में भी स्वतन्त्र होगा । इससे प्रशासनिक नेतृत्व और राजनीतिक नेतृत्व के बीच आरोप- प्रत्यारोप की भावना का अन्त होने से प्रशासन से गतिरोध का अन्त होगा । तृतीय इस व्यवस्था में प्रशासन से वरिष्ठ पदों से भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों के एकाधिकार वाली स्थिति का भी अन्त होगा[1]। द्वितीय श्रेणी के वेअधिकारी, जो सत्तारूढ़ राजनीतिक

1- हूवर कमीशन रिपोर्ट, पृ० 17

यदि प्रतिमान ढूंढे जायेंगे तो इंगलैण्ड, अमरीका, फ्रांस तथा रूस को चार विभिन्न मॉडलों के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। इन देशों में सरकार की प्रकृति के अनुसार प्रशासनतन्त्र की प्रकृति का निर्माण हुआ है। भारत में, जहाँ ब्रिटिश पद्धति की राजनीति व प्रशासन लम्बे काल से रहा है, लोक सेवक विशेषत: एवं अपरिपक्व रूप से अपनी भूमिकाएँ निभाते रहे है। स्वतन्त्रता के बाद उस सम्बन्ध में जो जटिलताएं आयी है उसके अनेक कारण है। प्रशासन का भीमकाय विस्तार, मंत्रियों की दुर्बल स्थिति, प्रशासन का केन्द्रीय स्वरूप, राजनीतिकरण का जोश, विशेषज्ञ का प्रशासन में पदार्पण आदि कुछ ऐसी बातें हैं जिन्होंने मंत्री-प्रशासक के सम्बन्ध में कुछ उलझने पैदा की है। मंत्री यह मांग करने लगे है कि प्रशासक उसके इतने अधीन होने चाहिए कि वे अपनी नीतियों को उनसे क्रियान्वित कर सकें और उसकी तटस्थता या योग्यता राजनीतिक विकास के मार्ग में बाधा न बने। इसी प्रकार राजनीतिक विकास के बाद अपनी केन्द्रीय स्थिति से अपदस्थ किये जाने वाले प्रशासक येकहने लगे है कि राजनीतिक नियन्त्रण का अर्थ राजनीतिक हस्तक्षेप नही होना चाहिए।

प्रशासनिक स्वायत्तता का नारा राजनीतिज्ञों द्वारा प्रशासनिक और गैर-जिम्मेदारी कहा जा रहा है और इसी प्रकार कठोर नियंत्रण की बात प्रशासकों द्वारा राजनीतिक अराजकता कहीं जाने लगी है। इस प्रकार मंत्री का यह नियंत्रण प्रशासनिक दृष्टि से यद्यपि आवश्यक व व्यावहारिक माना जाताहै किन्तु इससे जो समस्याएँ जन्म लेती है वे राजनीतिक प्रकार की अधिक है। प्रशासकों का कहना हैकि मंत्री का नियन्त्रण उनकी तटस्थता को तोड़ता है, उनमें अनुशासनहीनता को जगाता है और उन्हें राजनीतिक हस्तक्षेप का शिकार बनाकर अक्षमता एवं भ्रष्टाचार की ओर प्रवृत्त करता है। इसके विपरीत मंत्री का पक्ष यह कहकर समर्थन

है। ऐसी स्थिति में वे जनतन्त्र की प्रगति को धीमा करते है और समाज को राजनीतिक ह्रास की ओर ले जाते है।

किन्तु यह नियंत्रण और सम्बन्ध किस प्रकार का हो ? और उसकी प्रकृति क्या हो ? आदि प्रश्न सदैव जटिल रहे है । ए.डी. गोरवाला, पॉल एच0 एपलबी, अशोक चन्दा, प्रशासनिक सुधार आयोग तथा अन्य संस्थाओं एवं व्यक्तियों द्वारा किये गये अध्ययन इस दिशा में महत्वपूर्ण माने गये है, परन्तु अभी भी निश्चित रूप से वह नहीं कहा जा सकता है कि मंत्री तथा लोक सेवकों के सम्बन्ध वर्तमान में किस प्रकार के है तथा वे कैसे होने चाहिए ।[1]

राजनीतिक- नौकरशाही सम्बन्ध निम्नलिखित कारकों एवं परिस्थितियों पर निर्भर करते है -

§1§ राजनीतिक दल की प्रकृति - मंत्री अपने राजनीतिक दल का एक प्रभावशाली नेता होता है । उसका नौकरशाही पर बहुत कुछ प्रभाव इस बात पर निर्भर होता है कि वहाँ कहाँ तक सुंगठित है तथा उसकी विचारधारा विभिन्न विषयों परकहाँ तकसुस्पष्ट है तथा उसकी जनता के मध्य कितनी मान्यता है ? वह विभिन्न दलों के सहयोग से सत्तारूढ़ हुआ है या उसका विधान मण्डल में स्पष्ट बहुमत है ।

§2§ मन्त्रिमण्डल में स्थिति - यदि मन्त्रिमण्डल में सम्बन्ध मंत्री की स्थिति प्रभावपूर्ण है तथा उसके पीछे राजनीतिक समर्थन विद्यमान है तो वह अपने सचिव या अन्य विभागीय अधिकारियों से समक्ष प्रभावशाली सिद्ध होगा किन्तु इनसबसे पहले स्वयं प्रधानमंत्री की स्थिति का शक्तिशाली होना आवश्यक है[2] ।

1- प्रशासनिक सुधार आयोग का कार्मिक प्रशासन प्रतिवेदन 1969 पृ0 24

2- फिर वही,

§3§ सामाजिक एवं आर्थिक कारक - प्राय: मंत्री तथा लोक सेवकों के मध्य मतभेद उनकी विभिन्न सामाजिक संस्कृतियों के कारण होते है।

§4§ लोक सेवकों की पृष्ठभूमि- ताब, कोठारी व रॉय के अध्ययनो से पता चलता है कि राजनेताओं तथा नौकरशाही केमध्य नतो लक्ष्य सम्बन्धी समरूपता होती है और न ही वे एक दूसरे के प्रति सद्भाव रखते है । नौकरशाही अभी भी पुरानी मान्यताओं पर आधारित है। प्रशासक समझते है कि वे एक उच्च शिक्षा प्राप्त वर्ग के प्रतिनिधि है तथा वे ही समग्र राष्ट्रीय दृष्टिकोण तथा जनहित को समझते है । उनका सामाजिक ,आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक स्तर उनके मंत्री के साथ सम्बन्धो को प्राप्त करता है।[1]

§5§ वैयक्तिक विशेषताऐं एवं लक्ष्य - जाति, धर्म, भाषा, विचार व पृष्ठभूमि सम्बन्धी एकता मंत्री एवं प्रशासक के पारस्परिक सम्बन्धो को बड़ा प्रभावित करती है, भारतीय मंत्री वह प्रयास करते रहते है कि किसी तरह अपने जानकर प्रशासकों को लाया जाय ताकि उन पर भरोसा किया जा सके । स्वयं लोक सेवक केअपने उद्देश्य उसको प्रेरित करते है और वह शीघ्र पदोन्नतियों सेवा-निवृत्ति के पश्चात् नियुक्तियों आर्थिक लाभ, स्वजनो को नियुक्तियों आदि की दृष्टि से मंत्री का अनुगामी बन जाये[2]।

§6§ नीति निर्माण का स्तर तथा अभिकरणो का प्रकार - मंत्री एवं लोक सेवकों के सम्बन्ध विभागीय नीति या निर्णय निर्माण के स्तरो पर भी निर्भर करते है । उच्च स्तर पर उनके सम्बन्ध बराबरी और सहयोग , मध्य स्तर पर आदेश-अनुपालक तथा निम्न स्तर पर स्वामी सेवक जैसे होते है ।

1- भाम्बरी सी0 पी0 ब्यूरोक्रेसी एण्ड पौलिटिक्स ऑफ इंडिया विकास 1971 पृ0 114

2- फिर वही,

प्रोफेसर सी. पी. भाम्भरी ने प्रधानमंत्री एवं नौकरशाही के सम्बन्धों तथा अन्य राष्ट्रीय महत्व की घटनाओं का विश्लेषण करते हुए बताया है कि मंत्री की राजनैतिक स्थिति दुर्बल होने पर नौकरशाही हावी हो जाती है । शक्तिशाली नौकरशाही ने दलीय नेताओं के साथ पारस्परिक लाभों केलिए समझौता कर लिया है । स्वयं नौकरशाही ने अपने आपको कांग्रेस दल के उद्देश्यों की पूर्ति का एक साधन बनने दिया । असन्तुष्ट एवं अवमानित अधिकारियों ने प्रेस, संसद तथा विरोधी दलों का भी सहारा लिया है।[1]

यह भी अनुभव किया गया है कि सत्ता परिवर्तन होने, सरकारों के अस्थायित्व तथा मिले-जुले रूप के कारण और मंत्रियों के अज्ञान के कारण लोक सेवक हावी हो जाते है। इटली, फ्रांस, तथा 1967 की मिली-जुली सरकारी का अनुभव तथा भारत में जनता पार्टी का शासन नौकरशाही की बढ़ती हुई शक्तियों का परिचायक रहा है। अपने अवांछनीय सम्बन्धों को छिपाने केलिए सरकारों के बनने से पूर्व पुरानी पत्रावलियों का जल दिया जाता है। इसका मूल कारण मंत्री लोक सेवक के मध्य स्वार्थपूर्ण साँठ-गाँठ है। इस साँठ-गाँठ का कारण यह दोषपूर्ण धारणा है कि उनमें परस्पर पूर्ण, सहयोग या लगाव होना चाहिए । उनमें एकता व प्रतिबद्धता राज-नीतिज्ञ का नौकरशाहीकरण तथा नौकरशाही का राजनीतिकरण कर देती है।[2]

प्रोफेसर भाम्भरी की मान्यता है कि "भारत की नौकरशाही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तरीकों से राजनीति में दखल देती रहती है । भारत में

1- फिर वही,

2- फिर वही,

नौकरशाही न केवल तटस्थ है अपितु कानून से भी आगे बढ़कर राजनीतिक शक्तियों का प्रयोग करती है। बहुत बार तो यह देखा गया है कि मंत्री लोग अपने विभागीय अधिकारियों को भी नियंत्रण में नही रख पाते है।[1] इसी प्रकार प्रोफेसर शान्ति कोठारी ने जिला स्तर पर राजनीतिज्ञों और प्रशासकों के सम्बन्धों का अध्ययन करते हुए पाया है कि " राजनीतिज्ञ और प्रशासक के कार्यों में विभाजन का रूढ़िवादी दृष्टिकोण अब व्यवहार में देखने को नही मिलता है ।[2]

प्रोफेसर भाम्भरी का कहना हैकि सेवा निवृत्ति के तुरन्त बाद भारत के अनेक उच्चस्तरीय प्रशासकों नेकिसी न किसी राजनीतिक दल की सदस्यता ग्रहण करके सक्रिय राजनीति में पदर्पण किया और यह तथ्य इस धारणा को पुष्ट करता है कि स्वाधीनता के बाद में भारतीय नौकरशाही राजनीति में हस्तक्षेप करती रहती है। सी.सी. देसाई, एन, डांडेकर, एच. एम. पटेल, लोबो प्रभु आदि स्वतंन्त्र पार्टी के सक्रिय सदस्य रहे, जबकि वे सभी एक समय सरकार के उच्च प्रशासनिक पदों पर आसीन थे । वी. शंकर जिन्होंने कि सरदार पटेल के साथ रियासतों के एकीकरण में महत्वपूर्णभूमिका निभायी, राजाओं के साथ मिलकर बाद के दिनो में सरकारी नीति का विरोध करने लग गये[3]। ऐसा भी कहा जाता हैकि स्वाधीनता के बाद अनेक प्रशासकों ने कांग्रेस पार्टी के नेताओं से गहरी मित्रता कर ली और अपने न्यस्त स्वार्थों की पूर्ति करने लगे । इन लोगों में आर.के. धवन जो कि इंदिरा गांधी प्रधान मंत्री रहते उनके निजी सहायक से पदोन्नति पाकर विशेष सचिव बने बर्तमान में वे राज्यसभा के सदस्य हैं । प्रधानमंत्री राजीव गांधी के शासन काल में भारतीय विदेश सेवा से सम्बन्धित मणि शंकर अय्यर इस समय संसद के सदस्य है ।

1- माहेश्वरी श्रीराम - रोजगार समाचार 7 से 14 जुलाई 1992 पृ0 ।

2- फिर वही,

इंदिरा गाँधी के शासन के अन्तिम दिनो में भारत के गृह सचिव रहे और राजीव गाँधी एवं विश्वनाथ प्रताप सिंह के शासन काल में भारत के कन्ट्रोलर एवं आडिटर जनरल रहे टी. एन. चतुर्वेदी वर्तमान में संसद के सदस्य है एवं भारतीय जनता पार्टी से सम्बन्ध है । इन्दिरा गाँधी के शासन काल में उनके प्रमुख सचिव डॉ० पी०सी० अलक्जेडर इस समय महाराष्ट्र के राज्यपाल है । इन सब लोगों को देखकर यह लगता है कि कहीं न कहीं इनके मन में राजनीतिक पार्टियों से जुड़ने की महत्वाकांक्षी रही होगी ।

मॉरिस जोन्स के अनुसार मंत्रियों और प्रशासकों के सम्बन्धों में विकार पैदा हो सकते है यदि प्रशासक मंत्री को जी-हुजूरी करता है, प्रत्येक कार्य मंत्री को खुश रखने के लिए करता है । उचित कार्य को भी मंत्री की नाराजगी के डर से नही करता, और इस प्रकार प्रशासन के मानदण्डों को गिरा देता है। भारत में ऐसे अफसरो की कमी नही जो अपने दरबारी दृष्टिकोण के कारण मंत्रियों के पैर छूते है और उनके गलत कामों की आलोचना न करके उनका बेड़ा भी गर्क कर देते हैं[1]।

भारतीय नौकरशाही का गिरता स्तर -

समकालीन भारतीय नौकरशाही का स्तर दिन प्रतिदिन गिरता जा रहा है और उनमें निम्नांकित कमियाँ आसानी से देखी जा सकती है ।

(1) भ्रष्टाचार -हमारे देश के अधिकांश शासकीय कार्य नागरिक सेवा के कर्मचारियों के द्वारा ही किये जाते है। गाँवो की अशिक्षित जनता अपने-अपने-छोटे -छोटे कार्यों के लिए पटवारी, ग्राम सेवक, तहसील कार्यालय के

1- जोन्स मारिस - भारतीय शासन एवं राजनीति पृ0 32

क्लर्कों तथा जिले के अधिकारियों की तरफ देखती है। कृषि के लिए खाद लेना हो या सहकारी बैंक से कर्ज या पटवारी से कोई पट्टा तो रिश्वत का सहारा लेना ही पड़ता है । यदि किसी असावधानी से पुलिस के चंगुल में कोई फंस जाता है तो उसकी कमर टूट जाती है।

§2§ राजनीति में संलग्नता - सर्वोच्च स्तर पर बड़े-बड़े अफसर ऊपर से तटस्थ दिखलायी देते हैं किन्तु उनका राजनीति से कहीं न कहीं तादात्म्य भी रहता है । वे अपने विचारों को छिपाकर सरकारी निर्णयों पर प्रभाव डालते रहते है ।[1]

§3§ लालफीताशाही - भारत की प्रशासनिक सेवाओं में लालफीताशाही अथवा अनावश्यक औपचारिकता पायी जाती है। अधिकारीगण प्रक्रिया की औपचारिकता में विश्वास करते हुए नियमों और विनियमों का पालन कठोरता के साथ करते हैं । इसके परिणामस्वरूप कार्य की सम्पन्नता में विलम्ब होता है और महत्वपूर्ण निर्णय शीघ्र नहीं लिये जा सकते । नौकरशाही प्रक्रिया की औपचारिकताओं को अपना उद्देश्य बना लेती है और जनता की सेवा की उपेक्षा करती रहती है। औपचारिकता का अत्यधिक पालन करते-करते कर्मचारी तन्त्र मशीन की तरह बन गया है और इसकी निर्णय क्षमता क्षीण हो गयी है। अधिकारीगण उत्तरदायित्व वहन करना पसन्द नहीं करते , हर बात का उत्तरदायित्व दूसरों पर डालते रहते हैं ।[2]

1- द्वारा डॉ० रणजीत सिंह - इण्डियन पब्लिक एडमिनीस्ट्रेशन मैक मिलन 1975, पृ० 374

2- फिर वही,

§4§ शासन करनेकी अहं वृत्ति- भारत की नौकरशाही में एक झूठा अहं आज भी समाया हुआ है कि वे जनता के स्वामी है न कि सेवक । शासन करने के लिए ही वे बड़े-बड़े पद धारण कर रहे है न कि जनता की सेवा करने के लिए आजादी के बाद भी नौकरशाही देश की जनता से अपना तादाम्य स्थापित नहीं कर सकी । सामान्य जनता के सुख-दुख से अधिकारीगण कितने अलग-अलग रहते है इसका अवलोकन गाँवो में जाकर आसानी से किया जा सकता है ।[1]

§5§ विशेषज्ञों की उपेक्षा - भारतीय प्रशासन विविधज्ञ प्रधान है । उदार शिक्षा प्राप्त अधिकारियों का एक विशिष्ट वर्ग ही समूचे शासन में प्रशासकीय पदों को ग्रहण करता है। ऐसे विविधज्ञ प्रशासक कभी वित्त विभाग के उच्च पदों पर नियुक्त किये जाते हैं तो कभी सिचाई , बिजली, यातायात, शिक्षा आदि अन्य विभागों की देखभाल करते है। यदि आज वे जिलाधीश के रूप में कार्य करते है तो कल उन्हें शिक्षा संचालक अथवा सहकारी विभाग के सचिव के रूप में नियुक्त किया जा सकता है । संक्षेप में विविधज्ञ प्रशासक को सब मर्ज की एकमात्र दवा मान लियागया है?

नौकरशाही संगठित होकर के भारतीय राज व्यवस्था में क्रियाशील है। उच्च सेवा में कार्यरत अफसरो के अपने संघ है जो उनके हितों की सुरक्षा करते है। भारतीय नागरिक सेवा प्रशासनिक सेवा संघ कहा जाता है। यह एक अखिल भारतीय संघहै जिसे भारतीय नागरिक सेवा प्रशासनिक सेवा संघ कहा जाता है । यह एक अखिल भारतीय संघ है जिसकी शाखायें राज्यो की राजधानियों में भी है । राज्यो की राजधानियो में यह संघ कितना शक्तिशाली है जिसकी पुष्टि एक उदाहरण से की जा सकती है । एक बार

1- फिर वही,

2- फिर वही,

मध्य प्रदेश के एक भूतपूर्व मुख्यमंत्री ने एक कनिष्ठ मंत्री के कहने पर आई० ए० एस० वर्ग के कमिश्नर पद पर कार्यरत अधिकारी को निलम्बित कर दिया था। शीघ्र ही सचिवालय में आई०ए०एस० अधिकारियों की बैठक होती है और यह निश्चय किया जाता है कि मुख्यमंत्री को इस मामले में अपना निर्णय बदलने के लिए तैयार किया जायेगा । अन्ततोगत्वा मुख्यमंत्री को अपना निर्णय बदलना पड़ता है ।[1]

ऐसा माना जाता है कि नेहरू के पश्चात् निर्णय प्रक्रिया में नौकरशाही का प्रभाव लगातार बढ़ा है। शास्त्री जी के युग में शक्तिशाली प्रधानमंत्री सचिवालय का गठन किया गया और उसका अध्यक्ष श्री लक्ष्मी-कान्त झा को बनाया गया । कुछ ही समय में सचिवालय देश की राजनीतिक गतिविधि तथा प्रशासकीय सत्ता का मुख्य केन्द्र बन गया।[2] प्रो० चन्द्रप्रकाश भाम्भरी के शब्दों में "शीघ्र ही झा सभी स्थानों पर पाये गये । चाहे वे सरकारी समितियाँ हों या शास्त्री जी के नेतृत्व मे विदेश में जाने वाले शिष्टमंडल हों या शास्त्री जी से भेंट करने वाले विदेशी अतिथियों की बैठक हो, झा सभी जगह मौजूद थे । महत्वपूर्ण विदेशी राजदूतों ने , जो जल्दी ही सब कुछ ताड़ गये झा से मिलने जाने लगे और झा भी अपने हाथ-पाँव फैलाते गये, चाहे वह विदेश नीति हो या सुरक्षा या विदेशों से बातचीत या सारे आर्थिक मामले । शास्त्रीजी के काल में वरिष्ठ आई०ए०एस० अधि-कारियों का प्रभाव बढ़ा । अपने प्रभाव के कारण ही इन अधिकारियों ने अपने वेतन में वृद्धि करवा ली । शास्त्री जी के समक्ष नौकरशाही ने सिर उठाना प्रारम्भ किया और श्रीमती गाँधी के युग मे तो यह और भी ऊपर उठ गयी । श्री पी०एन० हक्सर के नेतृत्व में प्रधानमंत्री सचिवालय का पुनर्गठन किया गया इसके नियंत्रण में रिसर्च एण्ड एनालिसिस विंग (रॉ) नामक गुप्तचर विभाग गठित किया गया और सभी विभागों एवं

1- नयी दुनिया : 6 फरवरी 1974

मन्त्रालयों के लिए आवश्यक हो गया कि वे महत्वपूर्ण निर्णय लेने से पूर्व प्रधानमंत्री सचिवालय से स्वीकृति प्राप्त करें । इस प्रकार श्रीमती गाँधी के शासन काल में प्रधानमंत्री सचिवालय और उनके सचिव पी०एन० हक्सर एवं धर की छाप समस्त विभागों के निर्णयों पर झलकती रही । सन् 1980 के चुनावों के बाद भी ऐसा माना जाता है कि प्रधानमंत्री अपने मंत्रियों की अपेक्षा अपने सचिवालयों अधिकारियों पर अधिक विश्वास करती थी । राजीव गाँधी के प्रधानमंत्री बनने के बाद सर्वश्री मणिशंकर अय्यर, आस्कर फर्नाण्डीज, विजयशंकर त्रिपाठी आदि प्रधानमंत्री सचिवालय की संचालन शक्ति के रूप मे रहें तो विश्वनाथ प्रताप सिंह के प्रधान मंत्री बनने के बाद विनोद चन्द्र पाण्डेय एवं पी०सी० चतुर्वेदी ने प्रधानमंत्री सचिवालय की बागडोर सम्भाली है और आज भी पी०वी० नरसिंहा राव के प्रधान मंत्री बनने के बाद ए० एन० वर्मा, आर०के० खण्डेकर इत्यादि प्रधान मंत्री सचिवालय की संचालन शक्ति हैं ।

इस प्रकार भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को बनाये रखने में नौकरशाही या प्रशासनतंत्र का बड़ा हाथ है । विशेषत: प्रधानमंत्री सचिवालय के नौकरशाहों का दर्जा तो केन्द्रीय मंत्रीयों सेभी ऊँचा रहा है यह सर्व विदि। है कि नौकरशाही मंत्रियों की तुलना में शक्तिशाली रही है क्योंकि मंत्रीगण प्रत्येक कार्य को लोक सेवा के विशेषज्ञों से परामर्श लेकर करना ही अधिक अच्छा समझते है। मंत्री नये होते है और लोक सेवक अनुभव के कारण पेशेवर । फलस्वरूप अनेक मंत्रियों को लोकसेवकों के प्रभाव में ही कार्य करना पड़ता है[2]। गुलजारी लाल नन्दा जैसे अनुभवी मंत्री को भी यह शिकायत थी कि उन्हे अपने विभागीय सचिव से उपयुक्त

1- नय्यर कुलदीप: दि इम्पोर्टैन्स आफ डेलिगनेशन दि इण्डियन एक्सप्रेस अप्रैल 7, 1976 ।

2- प्रशासनिक सुधार आयोग का कार्मिक प्रशासन प्रतिवेदन 1969, पृ० 16-27

सहयोग व समर्थन नहीं मिल रहा है । ऐसे असहयोगी सचिव को गृहमंत्री नन्दा नहीं हटा पाये ।

राज्यों में नौकरशाही अत्यन्त शक्तिशाली रही है। संयुक्त मोर्चा सरकारों के कारण मंत्रीगण अपनी कुर्सी तथा अस्तित्व को रक्षा के संकट से जूझते रहे थे और नौकरशाही के प्रभाव क्षेत्रों में वृद्धि हुई । कांग्रेसी सरकारों के युग में मुख्यमंत्री नयी दिल्ली के पत्रवाहक" के रूप में कार्यरत थे और कांग्रेस दल की भीतरी गुटबन्दी के कारण भी नौकरशाही ने अपनी शक्तियाँ बढ़ा ली - भाम्भरी[1] सी.पी. ।

भारत में जिला उपजिला और ग्राम स्तर परभी नौकरशाही का राज है। गाँवों में आज भी पटवारी थानेदार और तहसीलदार सरकार के प्रतीक माने जाते है । इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही भारतीय राजनीति पर नौकरशाहों का आधिपत्य रहा है एवं समकालीन भारतीय राजनीति में इनका प्रभाव चरम सीमा पर है संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि नौकरशाही समकालीन भारतीय राजनीति का अभिन्न भाग हैं ।

1- सुब्रह्मण्यम: रिप्रेसेंटेटिव ब्यूरोक्रेसी एंड एसेस्मेंट , द अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस रिव्यू खण्ड 4, पृ0 119 ,

अध्याय - 8

उपसंहार

अध्याय-8

उपसंहार

1967 से 1989 तक का समय भारतीय राजनीति में काफी उथल-पुथल का रहा है क्योंकि इस अंतराल में भारतीय राजनीति में अनेक परिवर्तन हुए एक परम्परा का अन्त हुआ तो दूसरे का प्रारम्भ। इन परिवर्तनों की गति काफी तीव्र रही है, इन परिवर्तनों के मुख्य कारक राजनीतिक दल ही रहे हैं जिसका एक मात्र उद्देश्य येन केन प्रकारेण सत्ता की प्राप्ति रहा है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् के तीन आम चुनावों में राष्ट्रीय एवं राज्यों में सत्ता पर कांग्रेस दल का एकाधिकार था, लेकिन चौथे आम चुनाव के द्वारा राज्यों की सत्ता पर कांग्रेस के इस एकाधिकार को समाप्त कर दिया गया। कांग्रेस उस समय के 17 में से 8 राज्यों में बहुमत प्राप्त करने में असफल रही, ये 8 राज्य थे बिहार, केरल, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान उत्तर प्रदेश और पं० बंगाल। नार्मन डी पामर ने लिखा - चतुर्थ आम चुनाव अवसाद, निराशा, अनिश्चितता और लगभग लगातार आन्दोलन के वातावरण में सम्पन्न हुए।[1] एफ. पी. डब्लू डी कोस्टा ने लिखा है कि चतुर्थ आम चुनाव में भारतीय जनता द्वारा मतदान के आधार पर क्रांति लाने का कार्य किया गया।[2] इन चुनावों में जनता ने पर्याप्त परिपक्वता का परिचय दिया और इस दृष्टि में रखते हुए ही इन्हे प्रथम वास्तविक आम चुनाव और द्वितीय क्रांति जैसी संज्ञा दी गयी। 19[illegible] से 70 के बीच के समय में 17 में से 10 राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारें थी। अतः 1967 से ही राज्यों में एक दल की प्रमुखता के स्थान पर

1- नार्मन डी पामर: इंडियाज फोर्थ जनरल इलेक्शन (एशियन सर्वे, वाल्यूम 7, 1967, पृ० 277

2- एफ. पी. डब्लू. डी. कोस्टा- रूट्स आफ चेंज इन पापुलर वोट द हिन्दू 17 मार्च 1967।

प्रतियोगी दलीय व्यवस्था स्थापित हुई । डॉ० सुभाष कश्यप के अनुसार इस समय की राज्य राजनीति का सबसे प्रमुख लक्षण है कांग्रेस की शक्ति का ह्रास और गैर कांग्रेसी दलों की बढ़ती हुई शक्ति ।[1]

इस प्रकार 1967 का आम चुनाव भारतीय राजनीति के लिए मील का पत्थर साबित हुआ क्योंकि इस चुनाव में परम्परागत मतदान व्यवहार में परिवर्तन हुआ जिसका प्रभाव उत्तरोत्तर भारतीय राजनीति पर पड़ा ।

1967 से 1989 के बीच कांग्रेस एवं अन्य राजनैतिक दलों की स्थिति -

1967 के चुनाव के पूर्व से ही कांग्रेस में गुटबंदी अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गयी थी जिसका परिणाम था 1967 के चुनाव में कांग्रेस की हार । इस गुटबंदी का परिणाम यह हुआ कि 1969 में कांग्रेस दो पक्षों में विभाजित हो गई सत्ता कांग्रेस एवं संगठन कांग्रेस । जिसके कारण 27 दिसम्बर 1970 को लोक सभा भंग कर मध्यावधि चुनाव की घोषणा की गयी ।[2]

इन चुनावों में संगठन कांग्रेस, जनसंघ, स्वतंत्र दल और संयुक्त समाजवादी दल के द्वारा चार दलीय मोर्चे का निर्माण किया गया । यह चार दलीय मोर्चा केन्द्र में अपनी सरकार की स्थापना या पर्याप्त शक्तिशाली विरोध दल का स्थान ग्रहण करने के प्रति बहुत अधिक आशान्वित था लेकिन चुनाव परिणाम सत्ता कांग्रेस (इंदिरा गांधी के नेतृत्व) के पक्ष में गया । सत्ता कांग्रेस को लोक सभा में 350 स्थानों पर अपूर्व सफलता मिली । संगठन कांग्रेस को 16, जनसंघ को 22, संयुक्त समाजवादी दल को 3 स्वतंत्र को 8 ही स्थान मिले ।[3] 1971 के लोक सभा चुनाव परिणामों ने सबको आश्चर्यचकित कर दिया

1- डॉ० कश्यप सुभाष, दल बदल और राज्यों की राजनीति मेरठ 1970 पृ0 164

2- नवभारत टाइम्स 28 दिसम्बर 1970, पृ0 1

3- रिपोर्ट आन फोर्थ जनरल इलेक्शन, इलेक्शन कमीशन, इंडिया, न्यू दिल्ली ।

क्योंकि किसी को ये आशा नही थी कि सत्ता कांग्रेस को लोकसभा में 2/3 बहुमत मिल पायेगा । इस चुनाव परिणाम से चुनाव पूर्व संगठन कांग्रेस जनसंघ स्वतंत्र दल और संयुक्त समाजवादी दल के द्वारा बनाया गया मोर्चा टूट गया ।

मार्च 1971 के लोक सभा चुनाव एवं फरवरी 1972 के विधान सभा चुनावों के बीच विश्व राजनीति की सर्वाधिक महत्व पूर्ण घटना थी -स्वाधीन बंगला देश की स्थापना । इस घटना मे श्रीमती गांधी और सत्ता कांग्रेस की प्रतिष्ठा में बहुत अधिक वृद्धि कर दी, जिसका परिणाम मिला 1972 के विधान सभा चुनावों में 70.4 प्रतिशत (48.5 प्रतिशत मत) के द्वारा अप्रत्याशित जीत के रूप में । यह एक मात्र श्रीमती इंदिरा गांधी की विजय थी । के. आर मल्कानी ने लिखा है, 1971 में यदि इंदिरा लहर थी तो 1972 में इंदिरा ज्वार था ।[1]

1971 के लोक सभा चुनाव परिणाम से श्रीमती गांधी के रूप में फिर से नेहरू के बाद करिश्माई नेतृत्व का उदय हुआ क्योंकि इस चुनाव में श्रीमती इंदिरा गांधी ने नारा दिया कि चुनाव का मुद्दा मैं हूँ । जिससे कि व्यक्ति विशेष में सत्ता का केन्द्रीकरण हुआ एवं इंदिरा गांधी तानाशाह के रूप में उभरीं ।

छठी लोकसभा के चुनाव परिणाम से पहली बार केन्द्र में गैर कांग्रेसी सरकार का गठन हुआ । विरोधी दल भारतीय लोकदल, जनसंघ, संगठन कांग्रेस समाजवादी दल ने मिलकर कांग्रेस को चुनौती को स्वीकार करने के लिए जनता पार्टी का गठन किया, जिसे कि चुनावों में विजय मिली उसे लोकसभा में 270 स्थान मिले ।[2] जिसने कांग्रेस के विद्रोही गुट के लोकतंत्रीय कांग्रेस (जिसको लोक

1- इफ देअर वाज एन इंदिरा वेव इन 1971, देअर इज इंदिरा टाइड इन 1972 - मल्कानी के. आर. कांग्रेस इज किंग एंड इट इज वचीन इन मदर लैंड न्यू दिल्ली 15 मार्च 1975

2- छठें जनरल इलेक्शन की रिपोर्ट -इलेक्सन कमीशन 1977, न्यू दिल्ली ।

सभा में 28 स्थान प्राप्त थे) के साथ मिलकर सरकार का गठन किया ।
इस चुनाव में जनता पार्टी के विजय के मुख्य कारकों में जय प्रकाश नारायण का विरोधी दलों को समर्थन था क्यूंकि इस समय श्रीमती गाँधी की तस्वीर प्रेस, संसरसिप एवं नसबन्दी कार्यक्रम, आपातकाल लागू करने के कारण जितनी धूमिल थी जय प्रकाश नारायण की तस्वीर उतनी ही उज्जवल थी । 1977 के चुनाव परिणाम बहुत कुछ जय प्रकाश विजय के रूप में ही थे ।

जून 1977 के विधान सभा चुनावों के परिणाम भी लोकसभा चुनाव परिणाम के समान ही थे । लेकिन जनता पार्टी का शासन कुल मिलाकर असफल ही जिसके परिणाम स्वरूप 1980 में मध्यावधि चुनाव करना पड़ा ।

जनवरी 1980 के लोकसभा के चुनाव में इंदिरा कांग्रेस को 2/3 से अधिक स्थान प्राप्त हुए इसका प्रमुख कारण इंदिरा गाँधी का प्रभावशाली व्यक्तित्व एवं जनता पार्टी की गुटबंदी से कमजोर सरकार, जो कि अपना समय भी पूरा न कर सकी, था। इस चुनाव में कांग्रेस को 351 स्थान एवं 42.66 प्रतिशत मत प्राप्त हुए, जबकि जनता पार्टी को 31 स्थान ही मिले ।[1] 1977 एवं 1980 के चुनावों में एक प्रमुख अंतर यह था कि 1977 में श्रीमती गाँधी के समस्त विरोधी मतों ने एकराजनीतिक इकाई का रूप प्राप्त कर लिया था, लेकिन 1980 में श्रीमती गाँधी के विरोधी मत विभाजित हो गये । प्रमुख रूप से यह विभाजन जनता पार्टी और लोकदल में था और इसका लाभ इंदिरा कांग्रेस को मिला ।

विधान सभा चुनाव (मई 1980) में इंदिरा कांग्रेस को तमिलनाडु को छोड़कर शेष 8 राज्यों में विजय मिली । 1982 के चार विधान सभाओं के चुनाव में पश्चिम बंगाल को छोड़कर हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, केरल में इंदिरा कांग्रेस की सरकारें बनी । लेकिन 1983 जनवरी के विधान सभा चुनावों में कांग्रेस को हार का सामना करना पड़ा ।

1- 7 वें जनरल इलेक्सन की रिपोर्ट इलेक्सन कमीशन इंडिया, 1980 न्यू दिल्ली ।

आठवी लोकसभा के चुनाव परिणाम, इंदिरा कांग्रेस की अभूतपूर्व विजय थी इसमें इंदिरा कांग्रेस को लोकसभा में 401 स्थान एवं 41.3 प्रतिशत मत प्राप्त हुए ।[1] इसका मुख्य कारण इंदिरा गांधी की हत्या के कारण इंदिरा कांग्रेस के प्रति जनता के मन में उपजी सहानुभूति की लहर थी । टाइम्स ऑफ इंडिया के सम्पादक गिरीलाल जैन ने इस चुनाव को प्रधानमंत्री राजीव गांधी के लिए जनमत संग्रह [2] का नाम दिया । इस चुनाव को इंदिरा कांग्रेस एवं राजीव गांधी के लिए अपूर्व विजय कहा जा सकता है। राजीव गांधी के शासन में भ्रष्टाचार का बोल बाला रहा जिसके कारण 1989 में उन्हे हार का सामना करना पड़ा।

लोकसभा का (1989) का चुनाव एक बार फिर 1977 की पुनरावृत्ति के रूप में था । इसमें चार राजनीतिक संगठनो जनता पार्टी चन्द्रशेखर गुट, लोकदल (देवीलाल गुट) इंदिरा कांग्रेस से निष्कासित (वी.पी. सिंह गुट) राष्ट्रीय संजय मंच(मेनका) गांधी ने मिलकर इंदिरा कांग्रेस के विकल्प के रूप में जनता दल बनाया । जनता दल ने कांग्रेस के आधिपत्य को समाप्त करने के लिए तेलुगु देशम असम गण परिषद एवं डी.एम.के. से मिलकर राष्ट्रीय मोर्चा का गठन किया, जिसे नौंवी लोकसभा में 17.7% प्रतिशत मत एवं 141 सीट मिली, इसने मार्क्सवादियो एवं भारतीय जनता पार्टी के सहारे सरकार का गठन किया लेकिन आपसी खीचतान एवं गुटबाजी के कारण इसका भी वही हाल हुआ जो कि 1977 की जनता पार्टी सरकार का हुआ था । परन्तु इस चुनाव परिणाम से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि कांग्रेस के एकदलीय प्रभुत्व वाला साम्राज्य अब वह नही रहा जो कि 1984 तक किसी न किसी कारण से बना रहा ।

इस प्रकार 1967 से 1989 के अंतराल में विपक्षी पार्टियों के एकीकरण का मात्र उद्देश्य कांग्रेस का विकल्प तैयार करना रहा है जिससे वे जोड़-तोड़

1- 8वे जनरल इलेक्सन की रिपोर्ट 1989 इलेक्सन कमीशन इंडिया, न्यू दिल्ली ।

2- द इलेक्सन टू द एर्थ लोकसभा हैज टर्नड आउट टू बी ए रिफ्रेन्डम । द इंडियन पीपुल हैव वोटेड फार राजीव गांधी एंड कांग्रेस पार्टी- न्यू ट्रेड बिहाइंड द पोल- गिरीलाल जैन - द टाइम्स ऑफ इंडिया 30 दिसम्बर 1984 पृ06

करके सत्ता पर अधिकार पा सके । इसके कारण ही कोई भी राजनैतिक दल अकेले इस अवधि में सशक्त विपक्ष के रूप में नहीं उभर सका या अकेले सरकार बनाने की स्थिति में नहीं पहुँच सका ।

क्षेत्र आधारित राजनीति एवं क्षेत्रीय दलों की भूमिका-

नेहरू के अन्तिम दिनो में राजसत्ता केन्द्र से राज्यों की ओर उन्मुख हो गयी थी । नेहरू के पश्चात कांग्रेस में शिखर व्यक्तित्व के अभाव आदि कारणों से राज्यो में गुटबंदी बहुत तीव्र हो गयी थी । जिसके कारण राज्यों की राजनीति में क्षेत्रीयतावादी प्रवृत्तियाँ भी बहुत अधिक प्रबल हो गयीं । विभिन्न राज्यों में कांग्रेस के ही एक वर्ग ने कांग्रेस से सम्बन्ध विच्छेद कर क्षेत्रीय दलों का निर्माण किया । जनता पार्टी राजस्थान, केरल कांग्रेस (केरल), बंगला कांग्रेस (पं. बंगाल) आदि कुछ प्रमुख दल थे । कुछ राजनीतिज्ञो द्वारा तो ऐसी असंगत बातें की जाने लगी जिनका तार्किक निष्कर्ष भारतीय संघ से सम्बन्ध विच्छेद होता । इन प्रवृत्तियों की प्रबलता तमिलनाडु, पंजाब और असम जैसे राज्यों में देखी गयीं ।

1967 के चुनाव परिणामों से क्षेत्र आधारित राजनीति एवं क्षेत्रीय दलों की महत्वपूर्ण स्थिति का अवलोकन होता है जिसमे 17 में 8 राज्यों में (बिहार, केरल, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल) क्षेत्र आधारित राजनीतिक दलों ने गठजोड़ से सरकारे बनायीं । इन सरकारो का केन्द्रीय कांग्रेस सरकार से हमेशा विवाद बना रहा ।

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों का महत्व 1982-83 के चुनावों से बढ़ने लगा । 1982-83 में पश्चिम बंगाल, केरल, हरियाणा, त्रिपुरा, हिमाचल, नागालैण्ड, जम्मू कश्मीर, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, राज्यो में क्षेत्रीय दलों ने कांग्रेस को शिकस्त दे दी । जम्मू कश्मीर मे नेशनल कांफ्रेंस, आंध्र प्रदेश मे तेलगूदेशम, कर्नाटक में जनता पार्टी की सरकारे सत्तारूढ़ हुई । राज्यो में क्षेत्रीय दलो का

तत्व उभरने लगा। ये क्षेत्रीय दल राज्य स्वयंत्रता की माँग करने लगे। क्षेत्रीय दलों के मुख्य मंत्री केन्द्र राज्य सम्बन्धों में परिवर्तन की आवश्यकता पर जोर देने लगे। फलस्वरूप केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर पुर्नविचार करने के लिए सरकारिया आयोग की नियुक्ति की गयी। क्षेत्रीय दलों के प्रभाव का ही परिणाम है, असम में असम गण परिषद द्वारा 1985 में सरकार का गठन।

इस प्रकार 1967 से 1984 की अवधि में क्षेत्रीय राजनीति ने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। इसके बढ़ते प्रभाव का प्रमुख कारण जनता के मन में इनके प्रति बढ़ता विश्वास है एवं इसके द्वारा क्षेत्र विशेष का स्वस्थ विकास करना है। अतः क्षेत्रीय राजनीति एवं क्षेत्रीय दलों मे राज्य राजनीति के स्वस्थ विकास हेतु कुछ चिन्तन नितान्त आवश्यक है।

संविद सरकारी एवं दल-बदल की राजनीतिक भूमिका -

दल-बदल भारतीय राजनीति में विशेषतया राज्य राजनीति में सदैव से रहा है लेकिन 1967 के आम चुनाव के पश्चात् दल परिवर्तन इतनी तेजी से होना शुरू हुआ कि इसने गम्भीर राजनैतिक समस्या का रूप धारण कर लिया। उपलब्ध आंकडो के अनुसार मार्च 1967 से दिसम्बर 1967 तक केवल नौ मास की अवधि में राज्य विधान मण्डलों के कुल 3447 मे से 314 सदस्यों ने दल परिवर्तन किया। बहुत से विधायकों ने एक से अधिक बार दल परिवर्तन किया। इसके पश्चात् सत्ता सुख एवं धन लोभ मे यह एक राजनीतिक प्रक्रिया के रूप में अनवरत रूप से चल रहा है।

1971 में बिहार में दल-बदल की निरन्तर प्रक्रिया को न रोक पाने के कारण कर्पूरी ठाकुर ने विवश होकर अपने संयुक्त विधायक दल के मंत्रिमंडल का त्याग पत्र दे दिया। कर्नाटक में संगठन कांग्रेस के मुख्यमंत्री श्री वीरेन्द्र पाटिल को 34 महीने पुराने मंत्रिमंडल का त्याग-पत्र देने के लिए विवश होना पड़ा।

1967 से 1972 तक दल-बदल से विरोधी दलो को अधिक लाभ हुआ और 1971 के बाद दल-बदल से कांग्रेस को ही अधिक लाभ मिला । 1977 के लोकसभा चुनावो के बाद पूरे वर्ष भर जनता पार्टी के पक्ष मे दल-बदल होता रहा और 1980 के लोक सभा चुनावो के बाद तीव्र गति से कांग्रेस आई के पक्ष मे दल बदल होता रहा । राजीव गांधी ने प्रधानमंत्री बनने के बाद, इन सत्ता एवं धनलोभियों के ऊपर अंकुश लगाने के लिए संविधान में संशोधन करके दल-बदल विधेयक पारित करवाया । क्यूं कि ये सत्य है कि भारत मे दल-बदल सैद्धान्तिक आधार पर न होकर स्वार्थ-सिद्धि हेतुहुआ है।

दल-बदल कानून बन जाने के पश्चात भी सत्ता लोभी कानून की प्राथमिक आवश्यकता पूरी करके दल-बदल कर लेते हैं जिसका सबसे ताजा उदाहरण है जनता दल के नेता अजीत सिंह के कुछ सदस्यों को लेकर सत्ताधारी दल कांग्रेस मे मिल जाना एवं अपने हितों की पूर्ति कर लेना ।

चतुर्थ आम चुनाव के बाद मिली जुली सरकारों की राजनीति भारतीय राजनीति की एक महत्त्वपूर्ण पूर्ण प्रवृत्ति कही जा सकती है। लेकिन दल-बदल से बनी ये संविद सरकारें पूर्णत: अस्थिर रहीं क्योंकि इन सरकारो का मुख्य उद्देश्य कांग्रेस का विरोध ही रहा । राजनीतिक अस्थिरता का परिचय इस तथ्य से मिलता है कि फरवरी 1967 से फरवरी 1969 के दो वर्ष के काल में बिहार में 6 सरकारे बनी । इसमें सर्वाधिक चलने वाली सरकार का कार्यकाल 9 माह 25 दिन रहा ।

संविद सरकारो की राजनीति में केरल की साम्यवादी दल के नेतृत्व वाला मोर्चा तथा पश्चिम बंगाल में मार्क्सवादी दल के नेतृत्व वाला ही मोर्चा ही स्थिर सरकार दे पाया क्योंकि ये दल अपने क्षेत्र में ज्यादा संगठित और एकताबद्ध रहे । अधिकांश राज्यो में परस्पर विरोधी दलों के मोर्चे धीरे- धीरे टूट गये । परस्पर विरोधी विचारो वालेपार्टियों के एक होने के कारण ही

केन्द्र में 1977 एवं 1989 की जनता पार्टी एवं जनता दल की सरकारें स्थिर सरकार न दे सकी। मिली जुली सरकारों के प्रयोग ने भी भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को काफी हद तक प्रभावित किया है। सर्व प्रथम इससे संसदीय प्रणाली एवं प्रचलित संसदीय अभिसमयों पर प्रतिकूल प्रहार हुए हैं। मिश्रित सरकारों वाले राज्यों के राज्यपालों के पद विवादास्पद एवं बहुचर्चित बन गये। कहीं-कहीं विषम परिस्थितियों में "राज्यपाल" को सक्रिय भूमिका का निर्वाह करना पड़ा है। मुख्यमंत्री के पद का अवमूल्यन हुआ है, उसकी सत्ता का ह्रास हुआ है एवं उसे सरकार में शामिल दलों की समन्वय समिति की देख-रेख में कार्य करना पड़ा, उनके बराबर वालों में "प्रथम" जैसी स्थिति का भी ह्रास हुआ है।

भारत में केन्द्र एवं राज्य की संविद सरकारों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है मिली जुली सरकारें राजनीतिक एवं प्रशासनिक दृष्टि से अस्थिर होती हैं। इससे लार्ड ब्राइस का कथन ठीक प्रतीत होता है कि मिश्रित मंत्री मंडलों की सरकार कमजोर होती है। जब सरकार को अपनी सुदृढ़ स्थिति पर भरोसा नहीं होगा, विभिन्न घटकों के परस्पर मतभेद और तनाव के कारण मंत्रिमंडल की स्थिति डाँवा डोल बनी रहेगी तो वह प्रशासन की ओर कैसे ध्यान दे सकेगी और कैसे जन कल्याण की योजनाओं का कार्यान्वयन कर सकेगी ?

भारतीय राजनीति में जाति एवं धर्म का दुरूपयोग -

समकालीन भारतीय राजनीति जातीय प्रवृत्तियाँ राष्ट्र निर्माताओं की लाख कोशिशों के बावजूद खत्म होने की जगह गहरे पैठ चुकी हैं। कोई भी राजनीतिक दल इसके महत्त्व को झुठला नहीं सकते क्योंकि इस भावना को वोट के लिए उन्माद रूप में राजनीतिक दलों ने उभारा है।

भारत में सभी राजनीतिक दल अपने प्रत्याशियों का चयन करते समय जातिगत आधार पर निर्णय लेते हैं। प्रत्येक दल किसी भी चुनाव क्षेत्र में प्रत्याशी

मनोनीत करते समय जातिगत गठित का अवश्य विश्लेषण करते हैं । 1971 का आम चुनाव कांग्रेस ने हरिजन-मुसलमान -ब्राम्हण शक्ति पुँज बनाकर ही जीता था । 1980 में भी इंदिरा कांग्रेस ने इन्ही जातियों का समर्थन प्राप्त करके चुनाव जीता था ।

हाल के वर्षों में पिछड़ी जातियों के संगठनो ने इनको एक करके कांग्रेस के सत्ता के एकाधिकार पर प्रश्न चिहन लगा दिया है। 1980 के चुनावों में उत्तर प्रदेश एवं बिहार के कुछ क्षेत्रो में लोकदल की सफलता पिछड़ी जातियो की राजनीतिक महत्वाकांक्षा का प्रतीक है । उत्तर प्रदेश के चुनावो में चरण सिंह की सफलता सदैव ही जाट जाति के मतों की एकजुटता पर निर्भर रही है।

समकालीन भारतीय राजनीति में जातीयता का सिद्धान्त इतना गहरा धँस गया है कि राज्यो के मंत्रिमण्डल में प्रत्येक प्रमुख जाति का मंत्री होना चाहिए । यह सिद्धान्त ग्राम स्तर से लेकर प्रत्येक स्तर तक फैल गया है।

राजनीतिक दल प्रमुख जातियों को खुश करने के लिए विशेष सुविधाओं का प्रबंध करते रहे हैं । इन्ही वोट बैंको को ध्यान में रखकर संविधान में आरक्षण की व्यवस्था का गलत स्पष्टीकरण देकर उनको लुभाने के लिए सरकारी नौकरियों तक में संविधान में वर्णित 50% से अधिक आरक्षण नही की सीमा को लाँघकर आरक्षण की व्यवस्था कर दी जा रही है। जिसका प्रमाण तमिलनाडु एवं कर्नाटक की सरकारें हैं जिन्होंने अपने राज्यो में पिछड़ी जातियों के लिए 80 प्रतिशत तक आरक्षण की व्यवस्था कर रखी है।

यह जातिगत वोट की राजनीति समाज को सैकडो टुकडो में बाँट रही है बजाय उसे जोड़ने के । जब हम समाज को बाँट रहे है तो राष्ट्र प्रेम की बात करना पाखंड से कम नही । अतः भारतीय राजनीति में जाति एक अभिशाप बनकर उभर रही है क्योंकि इससे लोगों के मन में पृथकतावाद की भावना जग रही है राष्ट्रीय हित की अपेक्षा जातिगत हित प्राथमिक होते जा

रहे हैं । समकालीन उत्तर प्रदेश की मुलायम सिंह सरकार एवं बिहार की लालू सरकार इसके उदाहरण हैं जिन्होंने जातिगत हितों के लिए कितने ही नरसंहार करा डाले । यह लगता नहीं है कि सत्ता की चाह में देश एवं समाज को भूले ये राजनीतिज्ञ कभी चेतेंगे, एवं उन्हें सभी के लिए विकास, शिक्षा व खुशहाली याद आएगी या नहीं ।

स्वतंत्रता के पश्चात् राजनीतिक नेताओं ने सांप्रदायिकता को सत्ता प्राप्ति के निमित्त निर्वाचन में सहायक समर्थक आधार को व्यापक करने और निर्वाचन संघर्ष में सहयोगियों को सुदृढ़ करने में देखा । समकालीन भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता या समुदायवाद ने अपना स्थान बना लिया है । इसका मुख्य कारण लोगों में सामुदायिक एकीकरण है जिसके कारण वे राजनीतिक दलों से ब्लैक मेलिंग करते है । कोई भी राजनीतिक दल उनकी उपेक्षा या उनको अप्रसन्न करने का दुस्साहस नहीं करता है बल्कि इसके विपरीत वे सभी इन वर्गों की चाटुकारिता प्रतिस्पर्धी स्तर पर करते हैं । क्योंकि राजनीतिक दलों का मुख्य उद्देश्य है सत्ता गठन एवं इसको प्राप्त करने के लिए वे बाटो और राज करो, अल्पसंख्यक का पक्ष लेकर शासन करो के चुनावी गठित के अनुसार कार्य करते रहे है । वे जानते है कि ये मतकोष जमाँ पूजी हैं ।

भारत में अधिकांश राजनीतिक दल धर्म के आधार पर एवं संप्रदाय के आधार पर वोट मांगते रहे हैं । वोट बटोरने के लिए इमामों, पादरियों और साधुओं के साथ साँठ-गाँठ की जाती रही है। मार्च 1977, जनवरी 1980 दिसम्बर 89 के लोक सभा चुनावों के दिनों में दिल्ली की जामा मस्जिद के शाही इमाम की भूमिका से आसानी से यह समझा जा सकता है कि धार्मिक नेता राजनीतिक दलों से मुस्लिम सम्प्रदाय के वोटों को किस प्रकार सौदा करते है 9 किसी भी चुनाव के प्रचार में भारतीय जनता पार्टी का हिंदुत्व की भावना को उभारना एवं हिंदुत्व के नाम पर वोट मांगना इत्यादि से राजनीतिक दलों के मन: स्थिति का आँकलन आसानी से किया जा सकता है । दिनमान में किसी संवाददाता का लिखा कथन सही प्रतीत होता है

कि समाजवाद एवं गणतंत्र की बात करने वाले यदि इमाम के नाम पर वोट मांगे तो हो सकता है कि बलराज मधोक जैसे लोग शंकराचार्य नाम के नाम पर वोट मांगेगे , फिर क्या इस देश को इमाम और शंकराचार्य के बीच चुनाव करना पड़ेगा ?[1]।

भारतीय राजनीति में धर्म केगलत उपयोग के कारण ही सांप्रदायिकता की घटनाये जन्म लेती रहती है जिसका उदाहरण है रांची, बनारस ,अलीगढ़ जमशेदपुर तथा अहमदाबाद की हिंसक घटनायें। साम्प्रदायिकता एक अभिशाप है अत: राजनीतिक दलों को देश के बंटवारे को याद रखते हुए सांप्रदायिक राजनीति के द्वारा संप्रदायों के बीच की खाई को भरना चाहिए बजाय इसके कि सत्ता के लिए इनके बीच और आग भड़कायी जाय।

भारतीय राजनीति में अपराध एवं धन के वर्चस्व का मूल्यांकन :

भारतीय राजनीति में आन्दोलन की राजनीति का सूत्रपात 1971 के चुनावों में विपक्षी पार्टियों के हार के बाद से शुरू होता है। इस आन्दोलनों का मुख्य उद्देश्य प्रत्यक्ष कारवाई द्वारा सरकारों को विचलितकरना एवं जन सामान्य का ध्यान आकर्षित करना रहा है। जिससे किसी भी प्रकार से सरकार को कमजोर करके चुनाव करवाया जाय एवं सत्ता प्राप्ति का रास्ता प्रशस्त किया जा सके। 1971 के बाद से हिंसक आन्दोलन एवं हड़ताल भारतीय राजनीति के प्रमुख तत्वों मे से रहे है, चाहे ये आन्दोलन राजनीतिक मांगों को लेकर हो चाहे सरकार के पक्ष में रैलियों के रूप में हो।

आन्दोलन की राजनीति न केवल आर्थिक विकास को प्रभावित करती रही है बल्कि वे अर्थ-व्यवस्था और प्रशासन के सभी सामान्य कार्यों में रूकावट डालती रही है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि आन्दोलन की

1- दिनमान- दिसम्बर 1979, पृ0 19

राजनीति विष कन्या सदृश हैजिसके साथ सहवास करने से लोकतंत्रीय शासन अपने विनाश का निमंत्रण देता है ।[1]

लेकिन राजनीतिक दलो के नेताओं ने अपने आँख-कान पर पट्टी बाँध रखी है, उनका एक मात्र उद्देश्य सत्ता रूढ़ दल को पदच्युत करना रह गया है, बजाय रचनात्मक सहयोग देने के ।

इन राजनीतिक हिंसक आन्दोलनों के लिए राजनीतिक दल पेशेवर अपराधियों तक का सहयोग लेने में नही हिचक रहे हैं । वे पेशेवर अपराधियों से कानून व्यवस्था का उल्लंघन करवाते रहे हैं एवं सत्ता के लोभ में सामूहिक नरसंहार तक की घटनाएँ करवाना आजकल की भारतीय राजनीति में आम बातें हो गयी है। इसकी ताजा-मिसाल भारत के उत्तर पूर्व में बोडो लैंड की माँग बिहार में झारखंड की माँग को लेकर चलाए जा रहे हिंसक आन्दोलन है। इस प्रकार समकालीन भारतीय राजनीति का हर तरह से अपराधीकरण होता जा रहा है ।

आज भारतीय राजनीति में काले धन की एक समानान्तर तथा सशक्त अर्थव्यवस्था बह रही है जो आम जनता की सही राय जानने में बाधक रही है। चुनाव मे काले धन की भूमिका ने लोक शक्ति को अंदर से खोखला बना दिया है। आज एक भी ऐसा जनप्रतिनिधि नही है जो चुनाव लड़ने के लिए थैली-शाही से लम्बी चौड़ी रकम न हासिल करता हो ।

राजनीतिक दल इस रकम का उपयोग चुनावो में व्यापक प्रचार के लिए करते हैं अपराधियों से साठ-गाँठ करके उन्हें पैसे के बल पर खरीद लिया जाता है जो कि चुनाव के दौरान मतदान केन्द्रों पर कब्जा करते हैं, जाली मतदान उनके लिए आम बात हो गयी है। चुनाव जीतने के बाद राजनीतिक दल उनको राजनीतिक संरक्षण देते हैं जिससे कि थैलीशाह राजनीतिक दलो से

1- लोकतंत्र समीक्षा, जुलाई -सितम्बर 1973 पृ0 106

अपने हित के अनुसार कार्य करवाते हैं एवं अपराधी अपने हितों के अनुसार । बाद में सीधे तौर पर अपराधियों का एक वर्ग चुनाव के लिए चुनाव मैदान में उतरता है, एवं चुनाव जीतकर व्यवस्था का भाग बन जाता है जिससे किसी भी प्रकार के सही आचरण की अपेक्षा करना गलत है। इस प्रकार वर्तमान भारतीय चुनाव व्यवस्था एवं राजनीतिक व्यवस्था पूर्णत: दोषपूर्ण हो गयी है, जो कि लोकतंत्र के लिए एक दाग है ।

नौकरशाही का मूल्यांकन :

पिछले दो दशक में भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था जिसे नौकरशाही के नामसेजाना जाता है , इसके ढाँचे में व्यापक परिवर्तन हुआ है जिसका मुख्य कारण प्रशासन में राजनीतिक हस्तक्षेप हो रहा है । इसी के कारण भारतीय नौकरशाही की संस्कृति एवं मूल्यों में गिरावट आयी है । भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था मेंपरिवर्तन लाल बहादुर शास्त्री के शासन से दिखाई पड़ता है उनके समय मे लक्ष्मीकान्त झा जैसे अधिकारी उनके आँख एवं कान हुआ करते थे एवं किसी भी महत्वपूर्ण निर्णय में उनका बहुत अधिक हाथ रहा करता था एवं यही प्रक्रिया इंदिरा गाँधी , राजीव गाँधी, विश्वनाथ प्रताप सिंह, से लेकर नरसिंहाराव तक चली आ रही है । इनके शासन काल में डॉ० पी० सी० अलैकजेण्डर , आर०के० धवन , गोपी कृष्ण अरोरा , मणि शंकर अयर विनोद चन्द्र पाण्डेय एवं वर्तमान समय में ए०एन० वर्मा एवं आर० के० खाण्डेकर प्रधान मंत्री सचिवालय में अहम भूमिका निभा रहे हैं । वर्तमान समय में मंत्रिमण्डल सचिवालय एवं प्रधान मंत्री के सचिवालय का बढ़ता हुआ महत्व किसी से छिपा नहीं है । ये दोनों कार्यालय प्रधान मंत्री के आँख एवं कान थे एवं हैं । भारतीय नौकरशाही भी दिनों-दिन वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था से तादात्म्य में स्थापित करती जा रही है । एवं इसका भी दिनों-पदिन राजनीतिकरण होता जा रहा है क्योंकि राजनीतिक नेताओं के

स्वार्थ से निहित सही एवं गलत आदेशों का उल्लंघन करने पर उन्हें सजा भुगतनी पड़ रही है ये सजायें स्थानान्तरण के रूप में, उन पर एवं उनके परिवार पर हमलों के रूप में पैसे देकर खरीदने के रूप में होती हैं इसके परिणाम स्वरूप नौकरशाही का मनोबल काफी गिर गया है। नौकरशाही के बीच में ईमानदार अफसरों को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा है इसी कारण वर्तमान समय में अधिकतर वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी परोक्ष रूप से किसी न किसी राजनीतिक दल से जुड़े हुए हैं।

इस प्रकार 1967 से 1989 के बीच उभरती राजनीतिक प्रवृत्तियों से जिस प्रकार की भारतीय राजनीतिक संस्कृति का उद्भव हो रहा है उसके विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है राजनीतिक संस्कृति जो किसी समाज के निर्माण का साधन है वस्तुतः राजनीतिक दलों की लोलुपता का साधन बन कर रह गयी है इसलिए -

1- हमारे राजनीतिक जीवन में सत्ता की राजनीति का वर्चस्व स्थापित हो गया है। राजनीतिक नेताओं का सत्ता तक पहुँचना एक मात्र लक्ष्य बन गया है देश के विधान मण्डलों में पाँच हजार स्थान प्राप्त करने की छीना-झपटी और उसके लिए होने वाली सौदेबाजी ही राजनीति कहलाने लगी है। सारे राजनीतिक कार्य कलाप का निचोड़ यह रह गया है कि येन केन प्रकारेण चुनाव जीत लिया जाय और संसद या विधान सभा में प्रविष्ट होते ही मंत्री की गद्दी की ओर दौड़ा जाय। एक बार सत्तारूढ़ होने के बाद उनकी भरपुर चेष्टा यह रहती है कि कुर्सी बनी रहे। राजनीतिक सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, विरोध के लिए विरोध करते हैं और अन्य दलों के साथ साँठ-गाँठ और जोड़-तोड़ के माध्यम से चुनाव जीतने की चेष्टा करते हैं। वे कभी ऐसा ढाँचा नही खड़ा करते कि ऐसा ढाँचा खड़ा किया जाय जिसमे सामाजिक और आर्थिक सम्भव हो।

2- समकालीन भारतीय राजनीति एक व्यवसाय बन कर रह गयी है। यहाँ

राजनीतिज्ञों के लिए राजनीति ही उनकी रोजी रोटी है । भारत में अधिकतर लोग दूसरे व्यवसाय में असफलता के बाद ही राजनीति में आतेरहे हैं । आजकल राजनीति के सेवा के माध्यम के बजाय एक व्यवसाय और धंधे के रूप में विकसित होने के कारण बड़ी संख्या में लोग चुनावी प्रक्रिया की ओर आकर्षित हुए हैं । राजनीति के काफी हद तक सत्ता और आर्थिक सम्पन्नता के साथ जुड़ जाने के कारण लोगों की राजनीतिक आकांक्षाये बढ़ गयी है और उन्हे लगता है राजनीति में उतर कर कम मेहनत से अधिक अर्जित किया जा सकता है । इसी कारण टिकटार्थियों की भीड़ पार्टी मुख्यालयों की ओर बढ़ी है।

3- पिछले तीन दशकों से लगातार भारतीय राजनीति में अविश्वास की भावना बढी है। जिन लोगो को उत्तरदायी माना जाता है उन्हीं की बात पर जनता को भरोसा नही रहा है। राजनीतिक नेताओं के झूठे आचरण ने इस भावना को बहुत बढ़ाया है। आज की राजनैतिक नैतिकता का साम्य इस उक्ति में है कि राजनीति में सब कुछ चलता है । दूसरे शब्दो में झूठ धोखाधड़ी और सभी पापाराजनीति के नाम पर किए जा सकते हैं । चौधरी चरणसिंह का उदाहरण लिया जा सकता है, जिनकी जीवन भर की प्रधानमंत्री बनने की आकांक्षा आखिरकार पूरी हो ही गई । 15 अगस्त 1979 को लाल किले के प्राचीर से राष्ट्र को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा था कि उनकी सरकार मध्यावधि चुनाव के पक्ष में नहीं है क्योंकि उससे भारी खर्च होगा, और उसका बोझ जनता पर ही पड़ेगा । परन्तु पाँच ही दिन बाद उसी प्रधानमंत्री ने राय दी कि लोकसभा का विघटन करके चुनाव कराये जायें । इससे केवल यही कहा जा सकता है कि भारत में जनसाधारण का नैतिक स्तर देश में तथाकथित राजनेताओं की तुलना में कहीं अधिक ऊँचा है। साधारण व्यक्ति इस प्रकार आचरण करते हुए झिझकता है । क्योंकि उसे बदनामी का डर होता है । परन्तु जहाँ तक राजनीतिज्ञों

का संबंध है, उनमे तनिक भी हिचक नहीं है।

4- 1967 के पश्चात राजनीतिक संस्कृति में नारो व प्रतीको का विशेष महत्व रहा है। समाजवाद न लोने पर भी वर्षों तक कांग्रेस "समाजवाद" के नारे के नाम से चुनाव जीतती रही । 1967 मे चुनावो में डॉ० लोहिया का गैर कांग्रेसवाद, कांग्रेस हटाओ देश बचाओं का नारा काम कर गया । 1971 के चुनावो में गरीबी हटाओ का श्रीमती गांधी का नारा प्रभावी सिद्ध हुआ । मार्च 1977 में चुनावो में जयप्रकाश नारायण ने लोकतंत्र बनाम तानाशाही कानारा दिया । जनवरी 1980 मे श्रीमती गांधी का नारा था वह सरकार चुनिए जो काम कर सके । 1984 में राजीव गांधी ने राष्ट्रीय एकता खतरे में है का नारा दिया । 1989 में वी.पी. सिंह ने भ्रष्टाचार हटाओ का नारा दिया । जबकि 1991 के चुनाव मे कांग्रेस आई ने स्थिर सरकार व आर्थिक विकास के मुद्दो को प्रचार का माध्यम बनाया ।

5- समकालीन भारतीय राजनीति में प्रत्यक्ष कार्यवाही के तरीको का व्यापक प्रयोग होता है । यहाँ हम अक्सर अनशन, बंद, हड़ताल , घेराव , सत्याग्रह आदि के बारे में सुनते रहते है । इन साधनो का प्रयोग विरोध प्रदर्शित करने के लिए या दबाव डालने के लिए होता है। लगभग सभी हित समूह और राजनीति दल इन साधनों को वैध मानते रहे हैं ।

6- 1971 के पश्चात् भारतीय राजनीति में वोट के महत्व के कारण निम्न समझी जाने वाली जातियो का महत्व कई स्थानो पर बेरतहा बढा है। हाल के वर्षों में पिछडी जातियाँ न केवल अपने राजनीति स्तर के प्रति जागरूक हुई हैं, बल्कि सत्ता को भी ग्रहण कर रही है, जिनका प्रत्यक्ष प्रमाण उ०प्र० में मुलायक सिंह यादव की सरकार व बिहार में लालू प्रसाद यादव की सरकार हैं । इन सरकारो की सत्ता निम्न जातियों के बढ़ते प्रभाव के कारण स्थापित हुई है।

7- आज की भारतीय राजनीति में भ्रष्टाचार घुल -मिल गया है। राजनीतिक नेता अपनी पार्टी के लिए धन इकट्ठा करने के लिए सरकारी कर्मचारी की नियुक्ति स्थानान्तरण पदोन्नति आदि छोटे-बड़े मामले में गहरी दिलचस्पी लेने लगे हैं जिससे कि वो इन कार्यों को कराके धन इकट्ठा कर सकें । चुनाव लड़ने के लिए विभिन्न पार्टियाँ पूंजीपतियों एवं कम्पनियों से पैसा इकट्ठा करती है एवं सत्तारूढ़ होने पर उन्हें अनुचित लाभ पहुँचाने का प्रयत्न करती हैं । कुलदीप नायर का कथन आज की भारतीय राजनीति के लिए शत प्रतिशत खरा उतरता है कि प्रश्न यह नहीं है कि रिश्वत खोरी का दौर चल रहा है क्योंकि रिश्वत आज अपने आप में कोई समाचार नहीं है। [1]

इस प्रकार भारत में समतावादी ,सहभागी राजनीतिक संस्कृति का विकास हो रहा है। जिसमें पिछले परम्परागत मूल्यों का ह्रास हो रहा है एवं नये मूल्य स्थापित हो रहे है एवं उनको पुन: परिभाषित किया जा रहा है ।

राजनीतिक संस्कृति में यह परिवर्तन स्वाभाविक है क्योंकि सामाजिक विकास द्वन्द्ववादी होता है । स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत में जिस प्रकार की राजनीतिक संस्कृति का विकास हुआ था उसे वीनर ने विशिष्ट वर्गीय राजनीतिक संस्कृति कहा। यह उन व्यक्तियों की राजनीतिक संस्कृति थी जो राष्ट्रीय राजनीति में क्रियाशील थे एवं जिनका दृष्टिकोण विस्तृत था एवं जो राष्ट्रीय हितों को महत्व देते थे । विशेषत: यह आधुनिक वर्ग के लोगों की राजनीतिक संस्कृति थी जो सामाजिक एवं वैचारिक रूप से अधिक पश्चिमाभिमुख थे ,एवं इस संस्कृति को नेहरू माडल का नाम दिया गया ।

1- नायर कुलदीप : भ्रष्टाचार की दुर्गन्ध में सड़ता बिहार, राजस्थान पत्रिका (जयपुर), 8 दिसम्बर 1981

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सत्ता के जनतंत्रीकरण से जनसाधारण को राजनीति में भाग लेने का अधिक अवसर मिला एवं धीरे-धीरे समाज के निम्न वर्ग के लोग भी राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाने लगे। जिनका दृष्टिकोण पूर्णत: परंपरावादी है जो कि राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा स्थानीय हितों जैसे जातिवाद, संप्रदायवाद एवं प्रांतीयता की भावना को अधिक महत्व देते रहे है। धीरे-धीरे इन भावनाओं से ओत प्रोत समाज के निचले वर्ग के इन लोगों के राजनीति में सक्रिय सहभागिता ने राजनीति का रूप परिवर्तित कर दिया है एवं वर्तमान भारतीय राजनीतिक संस्कृति इसी की देन है। जिसमें सामाजिक एकता की आकांक्षा प्रधान है और जो विशेषकर आरक्षण के माध्यम से अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संघर्षरत है परन्तु विडम्बना यह है कि आर्थिक ढाँचा इस प्रकार का है जिससे समाज में केवल असमानता को ही पोषण मिलता है आर्थिक समानता लाने के लिए पिछले 5 दशकों में भूमि सुधार सम्बन्धी कानून अपनाए गये है जिनसे निश्चय ही ग्रामीण क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए है परन्तु इतना ही पर्याप्त नही है। कुल मिलाकर धन एवं सम्पत्ति का केन्द्रीकरण ही हुआ है। अत: सामाजिक क्रान्ति के साथ आर्थिक क्रान्ति की आवश्यकता है। जिसके प्रति हमारे संविधान निर्माता जागरूक थे लेकिन जिसका प्रावधान वे संविधान में अपने विवशताओं के कारण नहीं कर पाये थे और जिन अभावों को दूर करने के लिए संविधान में अनेक परिवर्तन हुए। जिनमे संविधान संशोधन 1, 4, 17, 44वॉं प्रमुख है। परन्तु 1990 के पश्चात् प्रगति का चक्र विपरीत दिशा में घूम गया है जो उदारीकरण, बाजार अर्थव्यवस्था की ओर ले जाता है जो पूंजीवाद की पुष्टि करता है और जो आर्थिक न्याय का आश्वासन नही देता।

अत: समकालीन भारतीय राजनीतिक संस्कृति विरोधाभास से ग्रस्त है एक ओर जहाँ सामाजिक समानता और न्यायसेसर्वोपरि मूल्य के रूप में मान्यता प्राप्त हैं जिनको साकार बनाने के लिए सरकारें आरक्षण की नीति का पालन कर रही हैं परन्तु सामाजिक समानता के साथ-साथ आर्थिक समानता का कोई कार्यक्रम नहीं है। वास्तव में प्रवृत्ति विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच आर्थिक खाई को और अधिक बढ़ाने की है अत: जहाँ सामाजिक संस्कृति समता की ओर ले जाती है वही आर्थिक विकास असमानता की ओर ले जाने वाला है। ऐसी स्थिति में हिंसा, भ्रष्टाचार अपराधीकरण स्वाभाविक है। यही कारण है कि भारतीय राजनीतिक संस्कृति जहाँ सामाजिक दृष्टि से समता वादी है, सहभागी है वहीं इसमें अपराधीकरण, भ्रष्टाचार और हिंसा की भूमिका महत्वपूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्थिक असमनाताओं के रहते हुए इन प्रवृत्तियों को नियंत्रित नहीं किया जा सकता। यही इस समय भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की मूल विडम्बना हैं।

... ...

1967 के चुनाव से सम्बन्धित सारणियाँ

सारणी - 1

§ अखिल भारतीय पार्टियाँ लोकसभा §

पार्टियों के नाम	उम्मीदवार	प्राप्त सीटें	सीटों का प्रतिशत	प्राप्त वोट	वोटों का प्र०	प्रति उम्मीदवार वोट
कांग्रेस	516	284	54.9	59402754	40.7	115135
स्वतंत्र	179	44	8.5	12659540	8.7	70825
सी. पी. आई	110	23	4.4	7584180	5.2	68765
सी. पी. आई§एम§	58	19	3.7	6140738	4.2	105415
सी. पी. §योग§	168	42	8.1	13104918	9.4	87086
पी. एस. पी.	109	13	2.5	4456487	3.1	40885
एस. एस. पी.	122	23	4.4	71715931	4.9	58784
जे. एस.	251	35	6.7	13715931	9.4	54645
एच. एम. आर. पी. आई आर. आर. पी	70	1	0.2	3607711	2.5	51539
अन्य पार्टिया	89	43	8.3	11096342	7.2	124678
निर्दलीय	865	35	6.7	20051200	13.8	23181
योग		520		145866510		

सारणी - 2

(राज्य विधान सभायें)

पार्टियों के नाम	उम्मीदवार	प्राप्त सीटें	सीटों का प्रतिशत	प्राप्त वोट	वोटों का प्रतिशत
कांग्रेस	3446	1693	48.5	57252357	39.96
स्वतंत्र	978	257	7.4	9519231	6.65
सी. पी. आई	625	121	3.5	5906104	4.13
सी. पी. आई (एम)	511	128	3.7	6579652	4.60
सी. पी. (योग)	1136	249	7.2	12475761	8.73
पी. एस. पी.	768	106	3.04	4868720	3.40
जे. एस.	1607	268	7.7	12567918	8.78
एस. एस. पी.	813	180	5.2	7424633	5.19
एम. एस.					
आर. पी. आई	378	23	0.7	2188973	1.53
अन्य पार्टियां	826	333	9.5	12785140	8.94
निर्दलीय	5554	376	10.8	24163591	16.97
योग		3487		143256509	

सारणी – 3

चुनाव का रूख : 1967 में राज्यों की विधान सभाओं में दलों की स्थिति

राज्य	कांग्रेस	कम्युनिस्ट	सोशलिस्ट	स्वतंत्र	जनसंघ	अन्य	निर्दलीय
असम	73	7	9	2	–	9	25
आंध्र प्रदेश	165	20	1	29	3	1	68
उड़ीसा	31	8	23	49	–	26	3
उत्तर प्रदेश	199	14	55	12	98	10	37
केरल	9	71	19	–	–	19	15
गुजरात	93	–	3	66	1	1	5
जम्मू कश्मीर	61	–	–	–	3	8	3
पंजाब	47	8	1	–	9	29	10
पं. बंगाल	127	59	14	1	1	47	31
बिहार	128	28	86	3	26	14	33
मद्रास	50	13	6	20	–	138	7
मध्य प्रदेश	167	1	19	7	78	2	22
महाराष्ट्र	203	11	12	–	84	24	16
मैसूर	126	2	26	16	4	1	41

राजस्थान	89	1	8	48	22	-	16
हरियाणा	48	-	-	3	12	2	16
केन्द्र शासित	77	6	4	1	7	28	27
योग	1693	249	286	257	268	359	375

नोट - आकडो का आधार चुनाव आयोग की रिपोर्ट तथा भारत सरकार
फोर्थ जेन, एलेक्शन: इन अनालिसिस - 1967

सारणी – 4

1967 में चुनाव का रूख : लोकसभा में दलों की स्थिति

राज्य	कांग्रेस	कम्युनिस्ट	सोशलिस्ट	स्वतंत्र	जनसंघ	अन्य दल	निर्दलीय
असम	10	1	2	–	–	1	–
आंध्र प्रदेश	35	1	–	3	–	–	2
उड़ीसा	6	–	5	8	–	–	1
उत्तर प्रदेश	47	6	10	1	12	1	8
केरल	1	12	3	–	–	2	1
गुजरात	11	–	–	12	–	–	1
जम्मू कश्मीर	5	–	–	–	–	1	–
नागालैंड	1	–	–	–	–	–	–
पं. बंगाल	14	10	2	–	–	7	7
पंजाब	9	–	–	–	1	3	–
बिहार	34	5	8	–	1	1	5
मद्रास	3	4	–	6	–	25	1
मध्यप्रदेश	37	2	3	1	10	–	2
मैसूर	18	–	3	5	–	2	1

सारणी - 5

पार्टी पसंद 1967 (प्रतिशत)

	कांग्रेस	जनसंघ	स्वतंत्र	सोशलिस्ट दोनों	कम्युनिस्ट दोनों	द्र. मुक	अन्य	निर्दल	कोई नहीं	पता नहीं नहीं इनकार
सब से ज्यादा लगाव	43.1	7.1	5.1	4.9	4.1	3.0	2.5	3.4	26.2	0.5
									वोट नहीं	दिया
सन् 67 में जिस दल को वोट दिया (राज्य चुनाव)	43.1	7.1	5.2	7.4	5.5	4.1	2.3	7.0	11.	6.6
1967में वास्तविक वोट प्राप्त (क) राज्य चुनाव)	40.0	8.8	6.8	8.7	8.7	4.4	6.0	16.7	-ख-	-

क- यह संख्या वैध वोटो की है।

ख- चूंकि बाकी संख्या वैध वोटो की है इसलिए वोट न देने वालो की संख्या नहीं दी गई । पर वास्तव में 38प्र. श. मतदाताओं ने वोट नहीं दिया ।

सूत्र- सेंटर फार स्टडी डेव. सोसा. दिल्ली "नेशनल एलक्शन स्टडी 1967 ।

<u>सारणी- 6</u>

पाँच राज्यों में मध्यावधि चुनाव 1967 और 1968-69

राज्य	कांग्रेस		कम्युनिस्ट		सोशलिस्ट		जनसंघ		अन्य दल		निर्दल	
	67 -	69	67-	69	67-	69	67-	69	67-	69	67-	69
हरियाणा स्थान	48	48	-	-	-	-	12	7	5	20वि.	16	6
वोट प्र. श.	41.33	43.88	1.44	0.46	3.79	0.97	14.39	10.45	6.08	27.14	32.97	17.10
उत्तर प्रदेश स्थान	199	211	14	5	55	35	98	49	22स्व.	107भा	37	17
वोट प्र. श.	32.20	33.98	4.50	3.55	14.07	9.58	21.67	17.26	8.27	25.93	18.69	9.70
बिहार स्थान	128	118	28	28	86	70	26	34	17जक	49	33	19
वोट प्र. शं.	33.09	30.30	8.19	11.31	24.58	19.21	10.41	15.91	5.84	2.16	17.88	21.11
पं. बंगालस्थान	127	55	59	110	14	14	1	-	48क्रा.	78बा.	31	23दिब
वोट प्र. श	41.13	41.31	24.64	26.96	4.01	3.17	1.33	0.83	15.41	12.97	13.49	14.76
पंजाब स्थान	47	38	8	6	1	3	9	8	29अ.	45 अला	10	4
वोट प्र. श	37.74	39.19	8.46	7.91	1.23	1.33	9.84	9.2	26.98	32.34	15.76	10.21

नोट - हरियाणा में मध्यचुनाव 1968 में हुए थे। कम्युनिस्ट में मार्क्सवादी तथा सोशलिस्ट में सं. सो. तथा प्र. सो. दोनों शामिल

वि. विशाल हरियाणा 16 स्थान 14.86 वोट प्र. श.

स्व. स्वतंत्र 12 स्थान 4.73 वोट, रिपब्लिकन पार्टी 10 स्थान 4.14 वोट

भा. भाक्रान्द 99 स्थान 21.22 वोट

ज. क्र. जनक्रांति दल 13 स्थान 3.33 वोट

जन. जनता पार्टी 14 स्थान 0.28 प्र. श. वोट

फा. 4 फारवर्ड ब्लाक 13 स्थान 4.43 प्र.श. बांगला कांग्रेस 34 स्था. 10.16 प्र०श०

बं. बांगला कां. 33 स्थान 8.01 वोट फार ब्लाक 21 स्थान 4.69 प्र.श.

रिव. रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी 12 स्थान

अ. अकाली 43 सीट 29.59 वोट

आंकड़े - रिपोर्ट फोर्थ जेन. एलेक्शन 1967 खंड 2 (एलेक्शन कमीशन 1967 नई दिल्ली)

पी.आई.बी. भारत सरकार मध्यावधि चुनाव विज्ञप्ति ।

सारणी - 7

कांग्रेस के विरूद्ध शिकायत से सहमतिया असहमति

शिकायत	जोर से हाँ	हा	नहीं	जोर से नही	नही जानता
कांग्रेस मूल्यवृद्धि नहीं रोक सकी	61.0	23.4	6.8	1.7	7.1
कांग्रेस खाद्य कावितरण ठीक न कर सकी	51.8	23.7	13.4	3.1	8.0
कांग्रेस भ्रष्टाचार का उन्मूलन न कर सकी	55.5	22.6	7.1	2.0	12.8
कांग्रेस अमन कानून कायम न रख सकी	36.9	28.5	15.7	4.5	14.4
कांग्रेस ने किसानो की मदत नहीं की	38.3	21.6	21.9	8.0	10.2
कांग्रेस देश को दृढ़ नेतृत्व न दे सकी	35.4	27.5	13.7	3.7	19.7

नोट - ये प्रारम्भिक आंकडे है (अधिकतर उत्तरदाता मर्द थे)।

सूत्र - से. स्ट. डेव. सोसा. दिल्ली " नेशानल एलेक्शन स्टडी 1967

सारणी – 8

पार्टीवार तथा पेशेवार संसद सदस्यों का विवरण, चौथी लोकसभा, प्रतिशत में

	जमीन	राजनैतिक सामाजिक मजदूर संगठनकार्य	वकालत	डाक्टर इन्जीनियर	शिक्षा पत्रकारी	व्यापार उद्योग	भूतपूर्व राजा	प्रशासन सेवा	अन्य
कांग्रेस	36.8	17.0	22.2	3.9	9.8	5.1	2.5	2.9	1.7
स्वतंत्र	40.5	2.4	12	4.8	2.4	16.7	7.1	7.1	7.1
जनसंघ	22.9	19.4	13	3.3	12.9	12.9	0.0	6.5	6.5
कम्यु. इं.	10.5	73.7	0.0	0.0	15.8	0.0	0.0	0.0	0.0
कम्यु. मार्क्स	0.0	80.0	5.0	0.0	15.0	0.0	000	0.0	0.0
संसोपा	42.1	42.1	5.3	0.0	10.5	0.0	0.0	0.0	0.0
प्रसोपा	23.1	15.4	38.5	0.0	15.4	0.0	0.0	7.7	0.0
द्रमुक	37.5	8.3	16.7	0.0	16.7	16.7	0.0	4.2	8.3
अन्य दल	13	21.7	21.7	0.0	26.1	17.4	0.0	0.0	0.0
निर्दल	19.3	12.1	19.4	6.5	12.1	16.1	12.9	3.3	0.0
योग	31.3	21.1	17.3	3.2	11.2	7.8	2.8	3.0	2.2

सूत्र- रत्न दत्त द पार्टी रिप्रेजेन्टेशन इन फोर्थ लोकसभा इक, ऐड पोलि. वीकली, चार. सं. 1-2 जून 1969

सारणी- 9

पेशेवार पार्टीवार वोट (प्रतिशत में)

	कांग्रेस	स्वतंत्र	जनसंघ	कम्यु. इ.	कम्यु. मा.	संसोपा	प्रसोपा	द्रमुक	अन्य	निर्दल	वोट नहीं दिया	मालूम नहीं
पेशेवर	39.5	0.0	13.2	2.6	5.3	7.9	2.6	2.6	2.6	2.6	13.2	7.9
व्यापारी	47.0	1.7	7.7	0.9	1.7	5.1	3.4	2.6	6.0	7.0	12.8	3.4
बुद्धिजीवी	31.2	1.4	12.1	2.8	2.8	2.8	3.5	0.7	7.1	7.1	17.7	10.6
कुशल कामगार	39.9	1.3	4.8	1.8	5.3	3.9	8.3	5.3	5.7	6.1	12.3	5.3
मामूली कामगार	42.6	2.2	4.9	3.3	3.8	5.5	2.7	2.7	1.1	7.7	16.9	6.6
खुद काश्त	46.1	8.4	8.1	3.6	1.3	2.0	2.8	4.9	0.7	6.9	8.4	6.7
खेत मजदूर	44.3	4.7	4.0	3.6	2.0	5.9	4.3	4.7	0.8	6.7	14.2	4.7
बेरोजगार	29.4	3.9	8.8	2.9	2.9	6.9	2.0	2.0	4.9	6.9	14.7	14.7

सूत्र- से. फार. स्ट. डेव. सोसा. दिल्ली, नेशनल एलेक्शन स्टडी 1967 । कच्चे आंकड़े ।

सारणी- 10

पार्टीवोट, पेशेवार (प्रतिशत में)

	पेशेवर	व्यापारी	बुद्धिजीवी	कुशल कामगार	मामूली कामगार	खुद काश्त	खेतमजदूर	बेरोजगार
कांग्रेस	1.8	6.6	5.3	10.9	9.3	49.2	13.4	3.6
स्वतंत्र	0.0	2.0	2.0	2.9	3.9	73.5	11.8	3.6
जनसंघ	3.5	6.3	12.0	7.7	6.3	50.7	7.0	6.3
कम्यु. इं.	1.7	1.7	6.7	6.7	10.0	53.3	15.0	5.0
कम्यु. मा.	4.3	4.3	8.5	25.5	14.9	25.5	10.6	6.4
संसोपा	4.2	8.3	5.6	12.5	13.9	25.0	20.8	9.7
प्रसोपा	1.4	5.6	6.9	26.4	6.9	34.7	15.3	2.8
द्रमुक	1.2	3.7	1.2	15.0	6.2	55.0	15.0	2.5
अन्य	2.2	15.2	21.7	28.3	4.3	12.0	4.2	10.0
निर्दल	.7	0.7	7.5	10.4	10.4	46.3	12.7	5.2
वोट नहीं दिया	2.2	6.5	10.9	12.2	13.5	32.6	15.7	6.5
नहीं जानते	2.3	3.0	11.3	9.0	9.0	45.1	9.0	11.3

सूत्र से. फार. स्ट. डेव. सोसा. दिल्ली. नेशनल एलेक्शन स्टडी 1967 । कच्चे आंकड़े

सारणी – 11

पाँचवें आम चुनावों के बाद राज्यों में राजनीतिक दलों की स्थिति

राज्य	विधान सभा में कुल स्थान	कांग्रेस	संगठन कांग्रेस	स्वतंत्र दल	जनसंघ	भारतीय साम्यवादी दल	मार्क्सवादी दल	समाजवादी दल	अन्य दल	निर्दलीय सदस्य
आन्ध्र प्रदेश	287	219	–	2	–	7	1	–	5	53
महाराष्ट्र	270	222	–	–	5	2	1	3	12	25
कर्नाटक	216	135	24	–	–	3	–	3	6	15
गुजरात	167	139	16	–	3	1	–	–	–	8
गोवा	30	1	–	–	–	–	–	–	28 (एम. जी. पी.)	1
दिल्ली (मैट्रोपोलिटन कौंसिल)	56	44	2	–	5	3	–	–	1	1
हिमाचल प्रदेश	65	51	–	–	5	–	–	–	13	1
बिहार	318	167	30	–	26	35	–	33	13	12
हरियाणा	81	66	–	–	–	10	1	–	24 (अकाली)	3
मध्य प्रदेश	297	220	–	–	48	3	–	–	–	18
राजस्थान	184	145	1	11	8	4	–	4	–	11

असम	114	95	–	1	–	3	–	4	6	5
मणिपुर	60	17	1	–	–	5	–	3	18	16
मेघालय	60	9	–	–	–	–	–	–	32	19
								१		१
पश्चिमी बंगाल	280	216	2	–	–	35	14	–	8	5
त्रिपुरा	60	41	–	–	–	1	16	–	5	2
जम्मू कश्मीर	74	57	–	–	3	–	–	–	–	9
योग	272	1926	88	16	105	112	33	57	163	231

– महाराष्ट्र गोमान्तक दल ।

सारणी- 12

भारत में चुनावी राजनीति और मतदान व्यवहार

राजनीतिक दल	1970 मे लोकसभा में प्राप्त स्थानो की संख्या	1971 के चुनाव में लोकसभा में प्राप्त स्थानो की संख्या	कुल वैध मतों का प्राप्त प्रतिशत
सत्ता कांग्रेस	220	350	43.6
संगठन कांग्रेस	65	16	10.6
मार्क्सवादी-साम्यवादी दल	19	25	4.9
भारतीय साम्यवादी दल	24	23	4.5
द्रविड़ मुनेत्रकड़गम	24	23	4.9
जनसंघ	33	22	7.5
भारतीय क्रान्ति दल	10	1	1
संयुक्त समाजवादी दल	17	3	2.4
प्रजा समाजवादी दल	15	2	2
अन्य दल व निर्दलीय	57	43	18.5
योग	519	516	100

सारणी- 13

दल का नाम	मार्च 1977 के चुनाव में उम्मीदवारों की संख्या	लोकसभा में प्राप्त स्थान	प्राप्त मतों का प्रतिशत
कांग्रेस	493	153	34.54
जनता पार्टी/लोकतांत्रिक कांग्रेस	423 (391+ 32)	298 (270+ 28)	43.12
भारतीय साम्यवादी दल	92	7	2.87
मार्क्सवादी दल	53	22	4.30
क्षेत्रीय दल और अन्य निर्दलीय	1278	59	15.17

सारणी - 14

छठी लोकसभा में जनता पार्टी के घटकों का प्रतिनिधित्त्व

संख्या	घटक का नाम	लोक सभा सदस्यों की संख्या
1-	जनसंघ	94
2-	भारतीय लोकदल	71
3-	संगठन कांग्रेस	50
4-	सोशलिस्ट पार्टी	28
5-	कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी	28
6-	चन्द्रशेखर गुट	5
7-	अन्य	25
	कुल	301

घटकवाद के आधार पर निर्मित जनता मंत्रिमण्डल

संख्या	घटक का नाम	मंत्रियों की संख्या
1-	भारतीय लोकदल	12
2-	जनसंघ	11
3-	संगठन कांग्रेस	10
4-	सोशलिस्ट	4
5-	कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी	3
6-	अकाली दल	2
7-	चन्द्रशेखर	2

सारणी- 15

1980 के लोकसभा चुनाव में विभिन्न राजनीतिक दलों की स्थिति का परिचय निम्न तालिका के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है।

राजनीतिक दल	चुनाव में खड़े किये गये उम्मीदवारों की संख्या	प्राप्त किये गये स्थानों की संख्या	मत प्रतिशत, जो प्राप्त किया गया
इन्दिरा कांग्रेस	488	351	42.66
जनता पार्टी	431	31	18.94
जनता "एस" (लोकदल)	291	41	9.43
भारतीय साम्यवादी दल	48	11	2.61
मार्क्सवादी दल	62	35	6.05
डी०एम०के०	16	16	2.15
अन्ना डी. एम. के.	24	2	2.38
अकाली दल	7	1	0.7
अन्य दल	200	16	3.25
निर्दलीय	2,828	8	6.55

अन्य राजनीतिक दलों के द्वारा जो 16 स्थान प्राप्त किये गये, उनका विवरण निम्न प्रकार है :

जम्मू-कश्मीर नेशनल कांफ्रेन्स 3

मुस्लिम लीग

केरल कांग्रेस (मणि ग्रुप)

क्रान्तिकारी समाजवादी दल

महाराष्ट्रवादी गोमांतक पार्टी

अखिल भारतीय फारवर्ड ब्लॉक

सिक्किम जनता परिषद

सारणी- 16

मई 1980 में सम्पन्न 9 राज्यों की विधानसभाओं के चुनाव परिणाम

राज्य का नाम	कुल स्थान	वर्तमान में चुनाव	इन्दिरा कांग्रेस	भारतीय जनता पार्टी	जनता (जे. पी.)	जनता "एस" (चरणसिंह)	जनता "एस (राज. ना.)	कांग्रेस (अर्स)	भारतीय साम्यवादी दल	मार्क्सवादी दल	अन्य क्षेत्रीय
उत्तर प्रदेश	425	419	305	11	4	58	4	13	7	–	–
मध्य प्रदेश	320	320	246	60	2	1	–	–	2	–	–
बिहार	324	321	167	21	13	43	1	14	24	6	झारखण्डमुक्तिम 12
राजस्थान	200	200	133	32	8	7	–	6	1	1	–
महाराष्ट्र	288	288	186	14	17	–	–	47	2	2	रिपब्लिकन-1 कृषक कामगारदल-5
गुजरात	182	180	141	9	21	1	–	–	–	–	–
उड़ीसा	187	146	117	–	3	13	–	2	4	–	–
तमिलनाडु	234	234	20	–	2	–	–	–	10	11	अन्ना डी. एस. के. - डी. एम. के- 38
पंजाब	177	177	63	1	–	–	–	–	9	5	अकाली दल- 37
	2,237	2,225	1,388	148	70	123	5	82	59	25	231

सारणी- 17

अाठवीं लोकसभा के चुनाव परिणाम

राजनीतिक दल	चुनाव के पूर्व की स्थिति	उम्मीदवारों की संख्या	प्राप्त स्थान	प्राप्त मतों
इन्दिरा कांग्रेस	339	481 तमिलनाडु में अन्ना डी. एम. के. और केरल में सहयोगी दलों का समर्थन	401	51. 90 (डी. सी. एम. विश्लेषण के अनुसार 49. 3 (पाक्षिक पत्रिका टुडे के अनुसार)
जनता पार्टी	21	207	10	7. 03
दलित मजदूर किसान पार्टी (लोकदल)	8	168	3	5. 91
भारतीय जनता पार्टी	16	226	2	7. 71
तेलगु देशम्	2	32	28	4. 14
कांग्रेस (स)	5	32	4	–
कांग्रेस (ज)	2	–	1	–
मार्क्सवादी दल	36	56	22	5. 80
भारतीय साम्यवादी	–	62	6	–
द्र. मु. क.	14	–	1	–
अन्ना द्र. मु. क.	3	–	12	1. 72
नेशनल कान्फ्रेंस (फारूख)	3	–	3	–

फारवर्ड ब्लाक	3	–	2	–
मुस्लिम लीग	3	–	2	–
आर.एस.पी.	4	–	3	–
अन्य दल	5 (राष्ट्रीय संजय मंच–3)		3 (केरल कांग्रेस–2, कृषक कामगार दल– 1)	
निर्दलीय	18 (निर्वाचित और 2 मनोनीत	लगभग 4 हजार (कुल के लगभग 70% निर्दलीय)	7 (5 निर्वाचित और 2 मनोनीत)	

दिसम्बर 1984 में लोकसभा के 508 स्थानों पर चुनाव हुए थे ।

सारणी - 18

मार्च 1985 में सम्पन्न 11 राज्यों और एक केन्द्रशासित प्रदेश को विधान सभाओं के चुनाव परिणाम

राज्य का नाम	कुल स्थान	इन्दिरा कांग्रेस	भारतीय जनता पार्टी	दलित मजदूर किसान पार्टी (लोकदल)	जनता पार्टी	भारतीय साम्यवादी दल	कांग्रेस "स"	मार्क्सवादी दल	अन्य क्षेत्रीय दल
आन्ध्र प्रदेश	294	49	8	–	2	11	–	11	तेलगू देशम्-205
उत्तर प्रदेश	425	266	16	86	19	–	–	2	–
कर्नाटक	224	66	2	–	139	4	–	2	–
बिहार	324	193	15	44	14	13	1	1	झारखण्डमुक्तिमोर्चा-1
उड़ीसा	147	117	1	–	21	1	–	–	–
गुजरात	182	149	11	–	14	–	–	–	–
राजस्थान	200	115	38	27	10	–	1	–	–
महाराष्ट्र	288	161	16	–	20	2	56	2	कृषक कामगारदल-12
मध्य प्रदेश	320	250	58	–	5	–	1	–	–
हिमाचल प्रदेश	68	55	7	1	–	–	–	–	–
सिक्किम	32	1	–	–	–	–	–	–	सिक्किम संगाम पार. -30
पाण्डिचेरी	30	15	–	–	2	–	–	–	अन्ना द्र. मु. क. -6 द्र. मु. क. -5
योग	2,534	1.437	172	158	246	31	59	18	296

सारणी - 19

विभिन्न दलों द्वारा 1967 से 1989 के बीच लोकसभा चुनाव में प्राप्त मतों का विवरण

चुनाव	कांग्रेस	भा. कम्यु0 भारत	भा0क0पा0 मार्क्सवादी	पी0एस0पी0	एस0एस0पी0	स्वतंत्र पार्टी	कांग्रेस (0)	जनसंघ	जनता/लोकदल
चौथा चुनाव 1967 कुल स्थान 520									
क- स्थानों का प्रतिशत	73.08	5.87	-	2.43	-	3.64	-	2.83	-
ख- मतो का प्रतिशत	44.73	9.94	-	6.81	2.70	7.90	-	6.44	-
पाँचवा, 1971 कुल स्थान 518									
क- स्थानो का प्रतिशत	67.95	4.42	4.83	0.39	0.58	1.54	3.09	4.25	-
ख- मतो का प्रतिशत	43.70	4.73	5.12	2.04	2.42	3.10	10.42	7.40	-

	छठा चुनाव								
	1977, कुल स्थान 542								
क-	स्थानो का प्रतिशत	28.71	1.29	4.06	–	–	–	0.55	54.43
ख-	मतो का प्रतिशत	34.52	2.82	4.30	–	–	–	1.72	41.32
	1980, 542 स्थान								
क-	स्थानो का प्रतिशत	66.07	2.09	6.67	–	–	–	–	7.80
ख-	मतो का प्रतिशत	42.70	2.61	6.10	–	–	–	5.30	9.40

चुनाव 1984 कुल स्थान 542								
क- स्थानो का प्रतिशत	78.64	1.17	4.32	-	-	0.39	-	0.78
ख- मतो का प्रतिशत	49.10	2.75	5.88	-	-	7.75	-	1.52
चुनाव 1989 कुल स्थान 543								
क- स्थानो का प्रतिशत	57.02	2.10	6.11	-	-	16.41	-	0.19
ख- मतो का प्रतिशत	39.33	2.61	6.32	-	-	11.56	-	0.33

1- वर्ष 1977 से कांग्रेस दल को कांग्रेस (आई) नाम से जाना गया। वर्ष 1984 में "आई शब्द) निकाल दिया गया।

2- वर्ष 1977 में भारतीय जनसंघ का विलय जनता में पार्टी हुआ, परन्तु 1980 भा.ज.पा. के रूप उदय हुआ।

3- 1977 से कांग्रेस (संगठन) का विलय कई दलों में हो चुका है। जैसे कांग्रेस (यू.) (जे) (एम)(बो)

सारणी- 20

मन्त्रिपद पाने वाले दल-बदलुओं के विस्मयकारी आँकड़े

क्र0सं0	राज्य का नाम	दल में दल-बदलुओं की सं0	मन्त्रियों की कुल संख्या	दल-बदल मंत्री संख्या और प्रतिशत	मुख्यमंत्री दल-बदलू है या नहीं
1-	राजस्थान:				
	सुखाड़िया मन्त्रिमण्डल	18	35	5 (14 प्रतिशत)	नहीं
2-	हरियाणा:				
	राव वीरेन्द्रसिंह का मोर्चा मन्त्रिमण्डल	29	23	22 (95 प्रतिशत)	हाँ
3-	पंजाब :				
	(क) गुरूनामसिंह का सं. मो. मन्त्रिमण्डल	7	17	6(35प्रतिशत)	नहीं
	(ख) कांग्रेस समर्थित मन्त्रिमण्डल	18	16	16(100प्रतिशत)	हाँ
4-	बिहार:				
	(क) एम. पी. सिन्हा का. सं. मो. मन्त्रिमण्डल	12	34	5(17प्रतिशत)	नहीं
	(ख) कांग्रेस समर्थित मण्डल मन्त्रिमण्डल	38	38	38(100 प्रतिशत)	हाँ
	(ग) भोला पासवानका. सं. मो. मन्त्रिमण्डल	51	13	7(53प्रतिशत)	हाँ
5-	मध्यप्रदेश :				
	गोविन्द नारायण सिंह मन्त्रिमण्डल	36	34	21(62 प्रतिशत)	हाँ
6-	उत्तर प्रदेश:				
	चरण सिंह का सं. मो0 मन्त्रिमण्डल	17	28	7 (25 प्रतिशत)	हाँ
7-	पश्चिमी बंगाल :				
	कांग्रेस समर्थित घोष मन्त्रिमण्डल	17	11	11(100 प्रतिशत)	हाँ

BIBLIOGRAPHY

Primary Sources

A) Official Publications

i) Report on fouth General Election in India Vol. II , Election Commission ,Government of India Press,1967.

ii) Report on 5th Lok Sabha Election in India, Commission Election Government of India Press,1971.

iii) Report on 6th general Election, Election in India ,Election Commission ,Government of India Press ,1977.

iv) Report on 7th general Election,Election in India,Election Commission ,Government of India Press, 1980.

v) Report on 8th Lok Sabha Election, Election in India,Election Commission ,Government of India Press- 1984.

vi) Report on 9th Lok Sabha Election,Election in India,Election Commission,Government of India Press - 1990.

i) Fourth Parliament - a souveniar , 1967-72 ,Parliament New Delhi- 72.

ii) Fifth Parliament - a souveniar, 1972- 77.,Parliament New Delhi- 72.

iii) Sixth Parliament - a souveniar, 1977 - 80 ,Parliament New Delhi- 72.

iv) Seventh Parliament- a souveniar, 1980-84 ,Parliament New Delhi- 72.

v) 8th Parliament- a souveniar, 1984- 90 ,Parliament New Delhi- 72.

3. i) Report on Raghubir Dayal Commission 1967.

ii) Report on Dutta Commission - 1970.

iii) Report on Huber Commission -

iv) Report on Sarkaria Commission 1988.

v) REport on Administrative reforms commission 1969.

4. Report on Lok Sabha debate (Eight Session) Vol -36.
Contains numbers 1-10 ,Monday July 30 ,1969 .
Lok Sabha Secretariat, New Delhi

International Encyclopidia of Social Sciences Vol. 26.

JOURNALS

1) Asian Survey
2) Economic & Political Weekly
3) Dinman
4) South Asian Review.
5) Arth Shastri
6) General of Constitutions and Parliamentry studies.
7) India Today
8) Lok Tantra Samikasha
9) Indian Journal of Social Science

NEWS PAPERS

1) Hindustan
2) The Hindu
3) Nawbharat Times.
4) Times of India
5) Rajasthan Patrika
6) Rastriya Sahara

SECONDARY SOURCES

Books/Report/Thesis

1. Almond G.A.- comparative POLITICAL System in Roy C. Macridis and Bernard E.Brown ,comperative Politics,The Dorsey Press, 1968.

2. Almond -G.A. -Comperative Politics,1972.

3. Asharef Ali & Sharma L.N.-Political Sociology : A new Grammer of Politics .

4. Ahmad Basiruddin - Congress depeat in Amroha ,A case study in one party dominance- Party system and Election Studies.

5. Auti, V.N.
A comparative study of Urban and rural political participat
An empirical study of local communities in Maharastra 1979,
Thesis: Shivaji University.

6) Anand J.C. - Punjab Politics -A survey

7) Brass R Paul- Political Participation, Institutionalization and Stability in India,Government and opposition .

8) Bhasin Prem- Politices National and Internation Associated New Delhi 1978.

9) Brass R Paul- Politics in Indian States.

10) Bhambari C.P. Public Administration in India 1973.

11) Ball A.R. - Modern Politics and Government -1971.

12) Balgopal K- Telangan Movement revisited , 1983.

13) Barthwal, C.P. and others- Politcial Participation in Garhwal A report 1986.
Research Project sponcered by Garhwal University .

14) Charles E.Lid Blam- Political Democracy and Diciplined Develo the case in India.

15) Chand Ashok- Federalism in India - London , 1968.

16) Chand Phul - Federalism and Indian Political Parties.

17) Chatarji Sharad Kumar- The coalition Government- 1976.

18) Chopra Sukhvarsha - Political Socialisation of the Secondary School , Papiles in India. New Delhi. 1985.

19) Dahl A Robert- The Emergence of appositions .

20) Dutt R.P. - India Today.

21) Dixit - Prabha Communadism - A struggle for Power New Delhi

22. Das Chandi R- The fourth General Election .1967.

23) Das ,V.C. Political Development in India .

24) Dharm Vir -Political afficacy : The concept and its applicability, 1979 .
Research Project sponsored by ICSSR.

25. Dutt Ratna : The Party representative in Fourth Lok Sabha

26) Davis Kavangh - Political culture.

27) Dinker Ramdhari Singh - Sanskrity Ke char Adhyay .

28) Darda Ranjit Singh - Bhartiya Lok Tantra Aur Andolan Ki Rajniti - 1973.

29) De Costa F.P.W. -Roots of Change in popular vote
The Hindu 17 March 1967.

30) Desai A.R. Bhartiya Rastravad Ki Adhunatam Pravritiya - 1978.

31) Ehsanul Haq Education and political cultue in India The elements of schooling system and cal socialization, New Delhi , Sterling

32) Eisenstadt, S.N.ed: Political sociology: A reader. 2 vols,
Jaipur Rawat, 1989.

33) Fredrik J .Karl Constitutional Government and democracy

34) Goel ,M.L Political participation in a developing nation: India ,Bombay Asia, 1975.

35) Gena C.B. Comperative Politics ,Vikas 1978)

36) Ghure , G.S. Cast and class in India.

37) Goswami, Binod Behari: Mizo unrest: A study of
of culture, 1976.
Thesis : Gauhati University.

38) Guota K.S. — A study in the process of Political socialization. Bombay, Himalaya-1989.

39) Guota N.K. — Political development and political leadership in village communities Indian journal of social Research Aug.84

40) Hansan and Dugglas — Indians democracy vikas 1974.

41) Iswardutta — Congress Eneyclopedia.

42) Jena B.B.ed. — Sooial conflict and Indian politics, Meerut, Meenakshi , 1989, viii ,

43) Jones W.H.Morris — Language and Region with in Indian Union Philip messon company -1967. India & cylon :Unity and diversity

44) Jones Morris & Gupta: B.Das. — Indias political report on an Ecologica investigation - Asian Survey no. 6 June -1969.

45) Jones Morris — . Government and Politics of India , Hachinson and company- London-1967.

46) Jones Morris — The Indian congress Party- A.Dilena dimension - Modern Asian studies 1 & 2

47) Jones Morris — Indian government and Politics .

48) Jena B.B.ed — Social conflict and Indian Politics, Merrut, Meenakashi , 1989.

49) Jain R.B. Contenporary issue Indians Administratio Vikas , New Delhi 1976.

50) Kamal K.L. Democratics in India, Vikas , New Delhi -

51) Karunakaran K.P Religions Political awaking in India , Merut - 1965.

52) Khan Dr. Rassinddian-Democracy in India - The Regional dimention seminer 169, 1974

53) Kothari Rajani Politics in India.

54) Kothari Rajani The congress system in India.

55) Kothari Rajani Party system

56) Kothari Rajani Cost in Indian Politics.

57) Kothari Rajani National Unity in danger case for smaller states -Times of INDIA 1968.

58) Kothari Rajani Tredition and Medernity Avisited governme and opposition No.(3) 1968.

59) Kothari Rajani Introduction context of electoral change in India , Indian council of developing socities -1969.

60) Krishna Gopal One party dominance -Developments party system and election studies developing socities- 167.

61) K ashyap Subash — Dalbadal and Rajyon ki rajniti Merrut 1971.

62) Kashyap Subash & Gupta V.P. — POLITICAL Science encyclopidia

63) Khan Dr. Rassinddian - The regional dimension ,Seminar No.1 1974

64) Miliband Ralph — Class power and state power, London Ve 1984 .

65) Nandi Ashish — The culture of Indian Politics a stack taking (Centre for Study of developi society .

66) Oomen, T.K. — Social structure and politics: Studies independent India, Delhi, Hindustan, 1

67) Panchanadikar and Panchanadikar,J. — Democratic studycture and socializatio rural India: Analysis of participation Bombay Popular, 1980.

68) Palmar & Norman — India's forth general election (Asian survey volume VII ,May -1967.

69) Pai L.W. — Political culture and political develo July 1975. Rajya Shastra Samiksha .

70) Rao K.N. — Regional and cast factors in India's development,publish - J.C.Daruwala

71) Rai Ramashray — Selection of Congress condidate , Economic and political weekly Feb,11, 1967.

72) Said P.M. — Bhartiya Rajnitik Pranali .

73) Sethi J.D. — India in crises -1975 .

74) Siwach J.R. — Dynamics of Indian Government and

75) Sharma Neena — Political socialization on and its on attitudinal change towards social political system : a case study of women of Delhi , New Delhi Inter Indi

76) Shivaih,M — Politics in an Indian village : A the empirical exploration in political 1980.

77) Singh Kamal Kumar — Political socialisation : A case Bihar legislative assembly, Delhi 1987 .

78) Saxena Brajesh C,- — Princely heritage : The social basis administrative Emerging sociology.

79) Sw..n Naidu,D- — The linkales of policy and society modern democracies. Journal of studies 13(2) September 1980-

80) Sharma Damodhar — Indian Political Culture different JAIPUR 1979

81)	SRI Aurobindo	The foundation of Indian Culture andRenaissance in India Pandichery
82)	Subramanyam B.	Representative Bureocracy and Assesm The Amercian political science eview No.4 1010 to 19. -1967.
83)	Sharma Mahadev prasad	Public Administrative theory and practice Kitab Mahal ,Allahabad 1971
84)	Standly a Kochenek	The congress party of India ,the dynamics of one party democacy.
85)	Tripathi A.	The extremist challenge vikas 1971.
86)	Veer & Ulan	Patterns of government - New york Random house 1962.
87)	Verma S.R. & Naryan Iqbal	Voting behavious in a chaning societ
88)	Verba Sydney	Political culture and political dev ment 1965, Prinston
89)	Weinner Minor	State Politics in India 1967.
90)	Weinner Minor	Party building in a nationa Indian National Congress (Cekago) 1967
91)	Weinner Minor	Party politics in India of a multyparty system

92) Weinner Vinor   India's two political cultures

93) Wiliams Rmond   Culture and society 1958.

94) Weber Max   Politics as vocation
Essay in sociology Kegan Paul
Ltd. London 1952.

95) Bricher Michea   Succession in India 1967 -The
rotinization of Political Change - Asian
survey Nuber 7 July 1967.

96) Naidu Ratna   Commercial edge of Rural socieitics -
India and MALASIYA.

97) Nayyar Kuldip   India ,the critical year 1977

98) Pam Dutt Rajani   Aaj Ka Bharat

99) Narayan Iqabal   Bharitiya Sarkar evam ki Rajniti .

100) Mohanti Manoranja   Revoludionary violence in India.
New Delhi,1977